पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

FEB 2026
अंक - 01

488

वाम और दक्षिण के बीच फँसा समाज

3

नई समाज व्यवस्था

4

प्रकाशन की तिथि - 16-03-2026 पोस्ट की तिथि - 31-03-2026

सिंहावलोकन

11 एआई का अर्थ और वैश्विक चर्चा
13 ज़ूम चर्चा कार्यक्रम
14 साथियों के कलम से
16 सुख: शांति और नियंत्रण: सभ्यता की मूल बेचैनी:-ज्ञानेन्द्र आर्य
17 जीवन पथ
18 संस्थागत समाचार

पत्र व्यवहार का पता
बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021
website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल
9617079344
mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
303 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
संजय तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

वाम और दक्षिण के बीच फँसा समाज

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

सृष्टि के प्रारंभ से अब तक दुनिया में शासन प्रणाली के नाम पर राजतंत्र का ही सर्वाधिक प्रभाव रहा है। बहुत चिंतन.मनन के बाद भी या तो कोई विकल्प दिखा नहीं या स्थापित नहीं हो पाया। राजतंत्र को बदला जाना चाहिएए यह सभी महसूस करते थे। परिणामस्वरूप पश्चिम में राजतंत्र को हटाकर लोकतंत्र प्रणाली का विकास हुआए किन्तु पूर्व के देशों में राजतंत्र यथावत चलता रहा। कालांतर में पूर्व के देशों ने राजतंत्र को हटाकर साम्यवाद की स्थापना की। यह बात सर्वसिद्ध हो चुकी है कि राजतंत्र की अपेक्षा लोकतंत्र भी बेहतर है और साम्यवाद भी। राजतंत्र एक व्यक्ति की तानाशाही हैए जबकि साम्यवाद एक समूह की तानाशाही है। किन्तु साम्यवाद न लोकतंत्र से अच्छा थाए न है। पिछले वर्षों में साम्यवाद की विफलता ने इसे पूरी तरह प्रमाणित भी कर दिया है। दुनिया के दोनों राजनीतिक ध्रुवकृलोकतंत्र और साम्यवादकृअपने प्रयोग में स्पष्ट थेए किन्तु भारत इन दोनों विचारधाराओं के बीच फँस गया। नेहरू जी सिद्धांत रूप से वामपंथी विचारों के निकट थेए किन्तु व्यवहार में वे पूरी तरह दक्षिणपंथी थे। विदित हो कि पश्चिम की संस्कृतिए शासन प्रणाली और सभ्यता को लोकतंत्रए पूँजीवाद या दक्षिणपंथ कहा जाने लगाए और रूस.चीन की व्यवस्था को साम्यवाद या वामपंथ नाम मिला। समाजवाद वामपंथ के साथ जुड़ गया।

इन दोनों ही धाराओं ने भारत के बुद्धिजीवियों को प्रभावित करने के लिए अनेक उपाय किएए जिनमें साहित्य पर पकड़ मजबूत करना भी शामिल था। भारत के साहित्यकारों की सोच को किसी न किसी आधार पर प्रतिबद्ध किया गया। यह दुखद है कि अनेक साहित्यकार अपनी स्वतंत्रता छोड़कर किसी एक विचारधारा से जुड़ गए और अपने नाम के साथ ऐसे शब्द जोड़ने लगे जो उनकी वैचारिक गुलामी दर्शाते थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जहाँ स्वतंत्र साहित्य ने संघर्ष में अपनी पूरी शक्ति लगा दीए वहीं प्रतिबद्ध साहित्यकारों की भूमिका नगण्य रही। स्वतंत्रता के बाद दोनों विचारधाराओं ने साहित्य को प्रभावित कर लियाए जिसके परिणामस्वरूप साहित्य अपनी शालीनता छोड़कर विवाद का अखाड़ा बनता गया।

वामपंथ और दक्षिणपंथ दोनों ही राजनीतिक विचारधाराएँ हैंए जिनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक हैए सामाजिक नहीं। दोनों ही अपने राजनीतिक उद्देश्यों को स्थायित्व देने के लिए उन्हें सामाजिक स्वरूप प्रदान करते हैं और साहित्य का उपयोग करते हैं। वामपंथ सत्ता के केन्द्रीयकरण और फिर उसके वितरण की बात करता हैए जबकि दक्षिणपंथ संपत्ति के केन्द्रीयकरण और सत्ता के विकेन्द्रीयकरण का पक्षधर है। व्यवहार में दोनों ही अपने.अपने सिद्धांतों से भटकते दिखाई देते हैं। वामपंथी स्वयं को धर्मनिरपेक्ष कहते हैंए किन्तु समान नागरिक संहिता का विरोध करते हैं। यह समझ से परे है कि कोई निरपेक्ष विचारधारा किसी विशेष धर्म के पक्ष में कानून की वकालत कैसे कर सकती है। इसी प्रकार दक्षिणपंथी भी अपने घोषित मूल्यों से भटकते हुए दिखाई देते हैं। भारत में धर्म का पालनए आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता हैए किन्तु धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरणा देने की सीमा विवादास्पद रही है। इस विषय पर भी दोनों विचारधाराएँ स्पष्ट और संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में असफल रही हैं। आर्थिक क्षेत्र में भी दोनों का दृष्टिकोण विरोधाभासी है। दक्षिणपंथ पूँजीवाद का समर्थक हैए जबकि वामपंथ व्यवहार में कई बार ऐसी नीतियों का समर्थन करता है जो आर्थिक असमानता को बढ़ावा देती हैं। दोनों विचारधाराओं का स्वरूप संगठनात्मक हैकृजहाँ कठोर अनुशासनए गुप्त निर्णय और सत्ता से निकटता देखने को मिलती है। विचारों की अपेक्षा भावनाओं को अधिक महत्व दिया जाता है। भारत की शांतिए न्याय और कानून व्यवस्था इन दो पाटों के बीच पिसती हुई दिखाई देती है। दोनों ही राष्ट्रभक्ति का दावा करते हैंए किन्तु व्यवहार में समाज को विभाजित करते हैं। केन्द्रीयकरण एक समस्या हैए जिसका समाधान विकेन्द्रीयकरण नहींए बल्कि ''अकेन्द्रीयकरण'' है। अकेन्द्रीयकरण का अर्थ हैकृसत्ता और संसाधनों का मूल इकाइयों ;व्यक्तिए परिवारए गाँवद्ध के पास ही रहना। जब अधिकार ऊपर की इकाई को चले जाते हैंए तो वह केन्द्रीयकरण है। जब वे किसी अन्य इकाई को सौंपे जाते हैंए तो विकेन्द्रीयकरण है। किन्तु जब अधिकार अपनी मूल इकाई को ही लौटते हैंए तो वह अकेन्द्रीयकरण है। यदि हमें सुरक्षित और संतुलित समाज बनाना हैए तो हमें वामपंथ और दक्षिणपंथ के बीच फँसने के बजाय इन दोनों से आगे निकलकर एक नए मार्ग की खोज करनी होगी।

संभावित शीर्षक
आपके लेख के लिए कुछ उपयुक्त शीर्षक

1- दो पाटों के बीच वामपंथ और दक्षिणपंथ का संकट
2- विचारधाराओं के बीच फँसा भारत
3- वाम और दक्षिण के बीच पिसता समाज
4- राजनीतिक ध्रुवों के बीच भारतीय अस्मिता
5- अकेन्द्रीयकरण एक नया मार्ग
6- लोकतंत्रए साम्यवाद और भारत का द्वंद्व

नयी समाज व्यवस्था

1. राज्य और समाज के अस्तित्व का द्वंद्व

राज्य कभी भी समाज के अस्तित्व को पूर्णतः स्वीकार नहीं करता। राज्य व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता है, व्यक्ति-समूहों के अस्तित्व को भी मान्यता देता है, लेकिन समस्त व्यक्ति-समूहों से बने व्यापक समाज के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। यही कारण है कि राज्य राष्ट्र को अंतिम इकाई मानता है और उसके ऊपर संयुक्त राष्ट्र संघ को स्वीकार करता है, परंतु विश्व-समाज को कोई स्वतंत्र इकाई नहीं मानता। वह संयुक्त मानव-समाज के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक राज्य-व्यवस्था स्वयं को सर्वोच्च मानती है। इसी कारण राज्य सदैव प्रत्येक व्यक्ति को शासित और स्वयं को शासक मानता है। राज्य निरंतर यह प्रयास करता है कि शासक और शासित के बीच दूरी बनी रहे और बढ़ती जाए। जो शासित हैं, उन्हें अयोग्य, अज्ञानी और अशिक्षित बताकर उनका मनोबल गिराया जाता है, जबकि राज्य स्वयं को योग्य, सक्षम और सर्वज्ञ सिद्ध करने का प्रयास करता रहता है।शासन और शासित के बीच बढ़ती हुई यही दूरी राज्य को सर्वशक्तिमान बना देती है। यहाँ तक कि राज्य व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के अस्तित्व को भी अपने दृष्टिकोण से देखता है और यह मानता है कि व्यक्ति को मौलिक अधिकार राज्य या संविधान द्वारा प्रदान किए गए हैं। इस प्रकार संचालक और संचालित के बीच जो दूरी निरंतर बढ़ती जा रही है, वह अत्यंत घातक है और इसका समाधान खोजा जाना आवश्यक है।

2. राज्य, धर्मगुरु और समाज पर प्रभाव की राजनीति

स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि राज्य अनेक बार समाज को प्रभावित करने के लिए धर्मगुरुओं का उपयोग करता है, क्योंकि सामान्यतः समाज पर धर्मगुरुओं का गहरा प्रभाव होता है। कई बार देखा जाता है कि धर्मगुरु अपने मूल कर्तव्यों से हटकर राज्य की प्रशंसा या समर्थन में अधिक सक्रिय हो जाते हैं। बदले में राज्य उन्हें सम्मान और विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ भी प्रदान करता है। यदि वर्तमान भारतीय संदर्भ में धर्मगुरुओं की समीक्षा करें, तो यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि अनेक धर्मगुरु समाज की बुराइयों—जैसे तंबाकू, शराब, दहेज आदि—को रोकने के लिए सरकार से अपेक्षा करते हैं। इससे यह प्रश्न उठता है कि समाज सुधार में उनकी अपनी भूमिका कितनी सक्रिय है। धर्मगुरुओं का मूल कार्य समाज को नैतिक दिशा देना, जागरूक करना और आचरण में सुधार लाना है, न कि केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित रहना। चिंता का विषय यह भी है कि कुछ मामलों में धर्मगुरुओं के वक्तव्यों में विरोधाभास दिखाई देता है—एक ओर समाज में कठोर या उग्र व्यवहार की बातें कही जाती हैं, तो दूसरी ओर सरकार से शांति और नियंत्रण की अपेक्षा की जाती है। यह स्थिति समाज में भ्रम उत्पन्न कर सकती है। वास्तव में, समाज सुधार का दायित्व केवल राज्य पर डालना संतुलित दृष्टिकोण नहीं है। राज्य का प्रमुख कार्य सुरक्षा, कानून-व्यवस्था और न्याय सुनिश्चित करना है, जबकि धर्मगुरुओं और सामाजिक नेतृत्व की भूमिका समाज में नैतिकता, अहिंसा और सदाचार को बढ़ावा देना होना चाहिए। अतः आवश्यक है कि राज्य और धर्मगुरु अपनी-अपनी सीमाओं और जिम्मेदारियों को समझें। धर्मगुरुओं को चाहिए कि वे समाज की बुराइयों को दूर करने में सक्रिय भूमिका निभाएँ और लोगों में सकारात्मक परिवर्तन लाएँ, जबकि राज्य अपने दायित्वों—सुरक्षा और न्याय—पर केंद्रित रहे। यही संतुलन समाज के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है।

3. कानूनी और नैतिकता के बीच अंतर का धुंधलापन

समाज को नियंत्रित रखने के लिए राज्य किन-किन उपायों का उपयोग करता है, इस विषय पर हम निरंतर चर्चा कर रहे हैं। इसमें एक महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि राज्य लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर रहते हुए इतने अधिक कानून बनाता है कि राज्य का कोई भी निवासी उनका पूर्णतः पालन नहीं कर सकता। ऽयदि कोई व्यक्ति सभी कानूनों का पूर्ण पालन कर ले, तो वह आत्मविश्वास के साथ कह सकेगा कि वह अपराधी नहीं है—और यही भावना राज्य के लिए चुनौती बन सकती है। इसलिए राज्य यह प्रयास करता है कि अधिक से अधिक कानून बनाकर प्रत्येक नागरिक को अपराध-बोध से ग्रसित किया जाए। राज्य यह भी कोशिश करता है कि कानून के उल्लंघन को ही अपराध की मुख्य परिभाषा बना दिया जाए, और गैर-कानूनी तथा अनैतिक के बीच का अंतर धुंधला कर दिया जाए। इस प्रकार इन सभी स्थितियों को 'अपराध' की श्रेणी में शामिल कर लिया जाता है। स्वाभाविक है कि ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जो पूरी तरह नैतिक भी हो और सभी कानूनों का पालन भी करता हो। इस स्थिति में राज्य को यह सुविधा मिल जाती है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर किसी न किसी स्तर पर अपराध-बोध उत्पन्न कर सके। राज्य की इन नीतियों का लाभ अपराधी तत्व भी उठाते हैं। जब कोई सामान्य व्यक्ति किसी डकैत पर आरोप लगाता है, तो वह डकैत पलटकर उसी व्यक्ति पर कर-चोरी,

देशद्रोह या अन्य आरोप लगाकर उसे कटघरे में खड़ा कर देता है। परिणामस्वरूप, सामान्य व्यक्ति का मनोबल गिर जाता है और अपराधी का साहस बढ़ जाता है। इस प्रकार राज्य और अपराधी—दोनों के उद्देश्य किसी न किसी रूप में पूर्ण हो जाते हैं, और एक ईमानदार व्यक्ति का सिर झुक जाता है। इस विषय पर गंभीरता से विचार किया जाना आवश्यक है।

4. मनोवैज्ञानिक प्रचार के माध्यम से समाज का विखंडन

राज्य लोकतांत्रिक तरीके से समाज को नियंत्रित करने के लिए जिन उपायों का उपयोग करता है, उनमें एक प्रमुख उपाय मनोवैज्ञानिक प्रचार है। राज्य इस माध्यम से समाज में यह धारणा स्थापित करता है कि समाज से ऊपर राष्ट्र है और समाज से ऊपर धर्म है। जब धर्म और राष्ट्र को समाज से ऊपर स्थापित कर दिया जाता है, तब धीरे-धीरे 'समाज' शब्द की परिभाषा बदल दी जाती है। जातियाँ समाज बन जाती हैं, संगठन समाज बन जाते हैं और धार्मिक संस्थाएँ समाज का स्थान लेने लगती हैं। इस प्रकार राज्य एक ओर समाज को विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर देता है और दूसरी ओर धर्म तथा राष्ट्र को उससे ऊपर स्थापित कर देता है। परिणामस्वरूप, राष्ट्र के स्थान पर राज्य सर्वोच्च बन जाता है और धर्म के स्थान पर संप्रदाय प्रमुख हो जाता है। सामाजिक एकता खंडित हो जाती है। इस प्रवृत्ति को विफल करने के लिए हमें एकजुट होकर प्रयास करना होगा। समस्या गंभीर है, किंतु उसका समाधान भी आवश्यक है, क्योंकि राज्य प्रचार माध्यमों के सहारे इस प्रकार की भ्रांतियाँ निरंतर फैलाता रहता है।

5. बिल्लियों के बीच बंदर राज्य की संतुलनकारी या नियंत्रक भूमिका

हम समाज में राज्य की वर्तमान भूमिका पर चर्चा कर रहे हैं। राज्य प्रायः समाज में 'बिल्लियों के बीच बंदर' की भूमिका निभाता है। इस भूमिका के तीन प्रमुख पक्ष हैं। पहला, बिल्लियों की रोटी कभी बराबर न होने दी जाए, क्योंकि जैसे ही बराबरी स्थापित होती है, बिल्लियाँ बंदर की आवश्यकता को नकार देती हैं। दूसरा, बंदर हमेशा रोटी को बराबर करने का प्रयास करता हुआ दिखाई देता है, परंतु वास्तव में उसे बराबर नहीं करता। तीसरा, बंदर लगातार छोटी रोटी वाली बिल्ली को यह याद दिलाता रहता है कि बड़ी रोटी वाली बिल्ली ने उसके साथ अन्याय किया है और उसी के कारण उसकी रोटी छोटी है। इन तीनों भूमिकाओं में बंदर निरंतर सक्रिय रहता है और बिना कोई वास्तविक श्रम किए ही उसका पेट भरा रहता है। राज्य भी कुछ इसी प्रकार की भूमिका में दिखाई देता है। वह निरंतर समाज की असमानताओं को दूर करने का दावा करता है, किंतु व्यवहार में असमानता को कम करने के बजाय अनेक बार उसे अप्रत्यक्ष रूप से बढ़ाता है। दूसरी ओर, वह "गरीबी हटाओ" जैसे नारों को दोहराता रहता है, परंतु गरीबी का वास्तविक उन्मूलन नहीं हो पाता। तीसरे, राज्य अक्सर गरीबों को शोषित के रूप में प्रस्तुत करता है और उन्हें यह अनुभव कराता है कि अमीर वर्ग उनके शोषक हैं। इस प्रकार वह समाज में विभाजन की भावना को बनाए रखता है। समाज को नियंत्रित रखने की इस प्रक्रिया में राज्य इन सभी उपायों का उपयोग करता है। इसलिए आवश्यक है कि समाज इस भूमिका के प्रति सजग और सतर्क रहे। हम निरंतर समाज को जागरूक करने के प्रयास में सक्रिय हैं।

6. आर्थिक नीतियों के माध्यम से असमानता का विस्तार

राज्य व्यवस्था समाज को नियंत्रित बनाए रखने के लिए लोकतांत्रिक तरीकों का उपयोग करती है। इन प्रयासों में एक महत्वपूर्ण आर्थिक पक्ष भी होता है, जिसके अंतर्गत राज्य आर्थिक असमानता को बढ़ाने वाले उपाय अपनाता है।इसके लिए राज्य ऐसी नीतियाँ बनाता है, जिनमें संपन्न वर्ग पर प्रत्यक्ष कर लगाया जाता है, जबकि उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। दूसरी ओर, गरीब वर्ग पर अप्रत्यक्ष करों का भार अपेक्षाकृत अधिक होता है, जबकि उन्हें प्रत्यक्ष रूप से कुछ सुविधाएँ दी जाती हैं। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप आर्थिक असमानता धीरे-धीरे बढ़ती चली जाती है। इसके बावजूद, गरीब वर्ग राज्य के प्रति आभार व्यक्त करता रहता है। इससे राज्य को दोहरा लाभ होता है—एक ओर आर्थिक असमानता बनी रहती है या बढ़ती है, और दूसरी ओर आम लोग राज्य पर अधिक निर्भर हो जाते हैं। भारतीय संदर्भ में भी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। गरीब वर्ग पर विभिन्न प्रकार के अप्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं, जबकि उन्हें मुफ्त या रियायती दरों पर भोजन अथवा आर्थिक सहायता दी जाती है। दूसरी ओर, संपन्न वर्ग पर प्रत्यक्ष कर तो लगाया जाता है, किंतु व्यापार और निवेश के क्षेत्र में उन्हें अनेक प्रकार की सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं। समग्र रूप से देखा जाए तो सुविधाओं का वितरण असंतुलित प्रतीत होता है—संपन्न वर्ग को अधिक संरचनात्मक लाभ मिलते हैं, जबकि गरीब वर्ग को सीमित प्रत्यक्ष सहायता। इसके बावजूद, गरीब वर्ग की ओर से प्रशंसा अधिक और संपन्न वर्ग की ओर से कम देखने को मिलती है। उदाहरणस्वरूप, कुछ वस्तुओं या सेवाओं पर कर लगाया जाता है, जबकि अन्य पर छूट या सब्सिडी दी जाती है। यह व्यवस्था जटिल आर्थिक संतुलन का हिस्सा होती है, परंतु इसके प्रभावों को समझना आवश्यक है। अतः आवश्यक है कि इन नीतियों का संतुलित और गंभीर विश्लेषण किया जाए, ताकि समाज आर्थिक संरचनाओं को बेहतर ढंग से समझ सके और जागरूक निर्णय ले सके।

7. राज्य, समाज और नियंत्रण की रणनीतियाँ

राज्य समाज को नियंत्रित बनाए रखने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय अपनाता है। इनमें एक महत्वपूर्ण पहलू

यह भी बताया जाता है कि राज्य गंभीर अपराधों से जुड़े व्यक्तियों के सुधार पर बल देता है, जबकि सामान्य अपराधों में संलिप्त लोगों को कारावास में रखा जाता है। आजकल यह भी देखा जाता है कि जेलों को सुधारगृह के रूप में विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है, जहाँ बंदियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और उनके व्यवहार में सुधार लाने के लिए प्रवचन या परामर्श जैसी गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं। दूसरी ओर, कई मामलों में लोग लंबे समय तक न्यायिक प्रक्रिया के कारण कारावास में रहते हैं। विभिन्न अपराधों के लिए अलग-अलग प्रकार के दंड निर्धारित किए गए हैं, जिनमें गंभीर अपराधों के लिए कठोर दंड और अन्य अपराधों के लिए भिन्न प्रकार की सज़ाएँ दी जाती हैं। यह एक जटिल कानूनी व्यवस्था का हिस्सा है, जिसे समय-समय पर समीक्षा और सुधार की आवश्यकता होती है। सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक समस्याओं के समाधान के तरीकों पर भी विचार किया जाना चाहिए। कई विशेषज्ञ मानते हैं कि सामाजिक समस्याओं का समाधान सामाजिक स्तर पर, आर्थिक मामलों का समाधान आर्थिक उपायों से, और प्रशासनिक मुद्दों का समाधान प्रशासनिक स्तर पर अधिक प्रभावी हो सकता है। इसलिए आवश्यक है कि न्याय और दंड व्यवस्था संतुलित, न्यायसंगत और परिस्थितियों के अनुरूप हो। समाज, राज्य और न्याय प्रणाली के बीच बेहतर समन्वय से ही एक अधिक न्यायपूर्ण और प्रभावी व्यवस्था विकसित की जा सकती है।

8. भावनात्मक नियंत्रण और सामाजिक भ्रम का तंत्र

हम पिछले कई दिनों से राज्य द्वारा समाज को प्रभावित करने के लिए लोकतांत्रिक तरीके से की जाने वाली नाटकबाज़ी पर चर्चा कर रहे हैं। हमने यह भी अनुभव किया है कि राज्य के प्रयासों में कुल मिलाकर लगभग 15 ऐसे नाटक होते हैं, जिनसे समाज प्रभावित होता है, भ्रम में पड़ जाता है और राज्य उससे लाभ उठाता है। इसका मुख्य आधार 'डिवाइड एंड रूल' की नीति है। राज्य समाज को टुकड़ों में बाँटकर उन पर पंच बनकर शासन करना चाहता है। साथ ही, राज्य समाज को भावनाओं में बहाकर उनसे अपने प्रति समर्पण और त्याग भी कराता है। ये दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। किन्तु समाज का एक बड़ा हिस्सा राज्य के इस नाटक को समझ नहीं पाता और उसके चक्र में फँस जाता है। राज्य लगातार उसका शोषण करता रहता है, और विडंबना यह है कि उसी शोषण में समाज को सुख का अनुभव होने लगता है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि समाज को केवल शराफत तक सीमित न रखकर उसे समझदार बनाया जाए। यदि समाज के लोग समझदार हो जाएँगे, तो वे राज्य के नाटकों को, विभाजनकारी नीतियों को और भावनात्मक जाल को समझ पाएँगे तथा उससे बच सकेंगे। इसलिए मेरा आप सभी से निवेदन है कि केवल शराफत तक सीमित न रहें, बल्कि समझदार बनें। इसके लिए एक अच्छा तरीका यह है कि आप "माँ संस्थान" के कार्यक्रमों में समय-समय पर भाग लें। इसके लिए कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है—आप ज़ूम, फेसबुक, व्हाट्सऐप या फोन के माध्यम से भी कहीं से जुड़े रहकर इस दिशा में सहभागिता कर सकते हैं।

9. अंधविश्वास से विज्ञान की ओर: जागरूक समाज की दिशा

नई समाज व्यवस्था में हम इस बात को लेकर समाज में जन-जागृति फैलाएँगे कि भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र आदि का कोई वैज्ञानिक आधार सिद्ध नहीं है। प्रकृति में अनेक ऐसे रहस्य हैं, जो अभी तक अनसुलझे हैं। जब ये रहस्य सुलझ जाते हैं, तो हम उन्हें विज्ञान का रूप दे देते हैं, और जब तक वे अनसुलझे रहते हैं, तब तक उन्हें भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र या जादू-टोना जैसे नामों से पुकारते हैं। ऐसी स्थिति में हमें विज्ञान को अधिक महत्व देना चाहिए। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो बातें अभी विज्ञान द्वारा सिद्ध नहीं हुई हैं, लेकिन जिन्हें हम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं, उन्हें हम पूर्णतः असत्य मान लें। मेरे विचार से इस विषय में वर्तमान स्थिति संतुलित है। आज के समय में भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र और जादू-टोना का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा है और निकट भविष्य में यह स्वाभाविक रूप से और घट जाएगा। इसके लिए किसी विशेष नियम या कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है; जन-जागरण ही पर्याप्त है। साथ ही, नए-नए शोधों के माध्यम से ऐसे अनसुलझे रहस्यों को समझने और सुलझाने का प्रयास किया जाना चाहिए—यही इस दिशा में सबसे उपयुक्त कदम है।

10. शिक्षा बनाम ज्ञान संतुलन की आवश्यकता

नई समाज व्यवस्था पर चर्चा। वर्तमान समाज व्यवस्था में पूरी दुनिया में, और विशेषकर भारत में, शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है। शिक्षा पर अधिक जोर देने के कारण ज्ञान का स्तर घटता हुआ प्रतीत होता है और ज्ञान तथा शिक्षा के बीच का संतुलन बिगड़ गया है। इसी कारण समाज में अधिकांश लोग शिक्षा प्राप्त करके नौकरी करना चाहते हैं। ज्ञान व्यक्ति की निर्णय-क्षमता को विकसित करता है, क्योंकि उसमें अनुभव निहित होता है, जबकि शिक्षा में अनुभव का अभाव होता है। इसलिए शिक्षा प्रायः नौकरी की ओर प्रेरित करती है। अब आवश्यकता है कि शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन किया जाए और शिक्षा तथा ज्ञान को एक साथ जोड़कर देखा जाए। इसका अर्थ यह है कि किसी भी बालक की प्रारंभिक अवस्था में उसकी योग्यता का आकलन किया जाए और उसी के आधार पर उसे उचित दिशा में प्रेरित किया जाए। उस दिशा में उसे

शिक्षा के साथ-साथ व्यावहारिक अनुभव भी दिया जाए। उदाहरण के लिए, जो विद्यार्थी डॉक्टर बनना चाहता है, उसे प्रारंभ से ही अध्ययन के साथ-साथ चिकित्सकीय अभ्यास का अवसर मिले। जो किसान बनना चाहता है, उसे आरंभ से ही कृषि संबंधी शिक्षा के साथ खेत में कार्य करने का अनुभव भी दिया जाए। जब ज्ञान और शिक्षा का समन्वय होगा, तब व्यक्ति केवल नौकरी की ओर नहीं, बल्कि स्व-रोजगार और सृजनात्मक कार्यों की ओर उन्मुख होगा। वर्तमान शिक्षा पद्धति में सुधार की आवश्यकता है, और इस दिशा में हमें मिलकर विचार करना चाहिए।

11. व्यक्ति, समाज और सरकार संतुलन का संकट

व्यक्ति और समाज—ये दोनों प्राकृतिक इकाइयाँ हैं और दोनों के अपने-अपने मौलिक अधिकार भी होते हैं। व्यक्ति उद्दंड न हो जाए, इसके नियंत्रण के लिए एक सरकार बनाई जाती है। इस सरकार का निर्माण समाज करता है और समाज ही उसे नियंत्रित भी करता है; केवल व्यक्ति अकेले यह कार्य नहीं कर सकता। सरकार एक निश्चित व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करती है, और यह व्यवस्था संविधान पर आधारित होती है। संविधान का निर्माण भी समाज द्वारा ही किया जाता है। यही व्यक्ति, समाज और सरकार के बीच का पारस्परिक संबंध है। इस प्रकार, सरकार और समाज—दोनों का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, क्योंकि व्यक्ति-समूह ही समाज का निर्माण करता है। वर्तमान भारत में समाज अपेक्षाकृत कमजोर हुआ है और अधिकांश कार्य सरकार ने अपने हाथ में ले लिए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि व्यक्ति के चरित्र में जो गिरावट दिखाई देती है, उसके लिए सरकार को उत्तरदायी माना जाता है, क्योंकि समाज की भूमिका सीमित हो गई है। अब स्थिति यह है कि समाज न तो प्रभावी रूप से संविधान निर्माण में भाग ले पाता है, न ही नियम बना पाता है और न ही उन्हें लागू कर पाता है—ये सभी कार्य मुख्यतः सरकार के नियंत्रण में हैं। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि व्यक्ति के चरित्र में सुधार तब तक व्यापक रूप से संभव नहीं है, जब तक सरकार का हस्तक्षेप कम न हो या उसकी कमियों को दूर न किया जाए। जो लोग व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में लगे हुए हैं, उनका प्रयास भी महत्वपूर्ण है और उसे जारी रहना चाहिए। किंतु केवल चरित्र-निर्माण के माध्यम से व्यापक परिवर्तन संभव नहीं प्रतीत होता।

अतः चरित्र-निर्माण के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन को भी समान रूप से, बल्कि अधिक प्राथमिकता के साथ विचार करना आवश्यक है।

पक्ष-विपक्ष की राजनीति लोकतंत्र या मंचित संघर्ष

दुनिया भर के लोकतांत्रिक देशों में सरकारें समाज को प्रभावित करने के लिए विभिन्न लोकप्रिय व्यवस्थाएँ अपनाती हैं। इन तरीकों में एक प्रमुख तरीका यह है कि सरकारें स्वयं को पक्ष और विपक्ष के रूप में विभाजित कर लेती हैं। जिस प्रकार वकील अलग-अलग पक्षों में बँटकर न्यायालय में अपनी-अपनी दलीलें प्रस्तुत करते हैं, या जिस प्रकार कव्वाल मंच पर प्रस्तुति के दौरान संवाद और प्रतिस्पर्धा का वातावरण बनाते हैं, अथवा रामलीला में पात्र आपस में युद्ध का अभिनय करते हैं—उसी प्रकार यह पक्ष और विपक्ष भी निरंतर टकराव का वातावरण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया से सामान्य जन प्रभावित हो जाते हैं और स्वयं को भी पक्ष या विपक्ष के रूप में विभाजित करने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि यह विभाजन प्रायः राजनीतिक प्रक्रिया का एक हिस्सा होता है। कई बार जब समाज अधिक सशक्त होता दिखाई देता है, तो विभिन्न पक्ष आपसी संवाद और समझौते के माध्यम से निर्णय लेते हैं। यह व्यवस्था विश्वभर में प्रभावी मानी जाती है और भारत में भी इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। इसलिए आवश्यक है कि राजनीति में संतुलन और निष्पक्षता को बढ़ावा दिया जाए। जनप्रतिनिधियों को इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि वे स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकें और केवल पक्ष या विपक्ष की सीमाओं में बँधकर न रहें, बल्कि व्यापक समाजहित को ध्यान में रखकर कार्य करें।

संविधान, बहुमत और सरकार की सीमाएँ

मेरे कई मित्र, जिनमें अधिकांश या तो सावरकरवादी हैं अथवा नेहरू-समर्थक, बार-बार यह प्रश्न करते हैं कि यदि पिछली सरकारों ने गलतियाँ की हैं, तो वर्तमान सरकार ने पिछले 10–12 वर्षों में उन गलतियों को ठीक क्यों नहीं किया? क्या वर्तमान सरकार इसके लिए दोषी नहीं है? मैंने इस विषय पर गंभीरता से विचार किया और मुझे लगा कि प्रश्न करने वालों को न तो लोकतंत्र का समुचित ज्ञान है और न ही संविधान की पर्याप्त समझ है। पिछली सरकारों ने या तो दो-तिहाई बहुमत मिलने के बाद संविधान संशोधन किए, अथवा अल्पकाल के लिए तानाशाही तरीके अपनाकर उसमें परिवर्तन किए। लेकिन वर्तमान सरकार को पिछले 12 वर्षों में ऐसा स्पष्ट बहुमत नहीं मिला, जिसके आधार पर वह उन संवैधानिक त्रुटियों को पूरी तरह सुधार सके। वर्तमान सरकार एक ओर न्यायपालिका की सीमाओं से बँधी हुई है और दूसरी ओर दो-तिहाई बहुमत के अभाव से। स्पष्ट है कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णयों के लिए विपक्ष की सहमति आवश्यक होती है, और विपक्ष अपने पूर्व रुख पर बना हुआ है। ऐसी स्थिति में मैं अपने मित्रों से यह जानना चाहता हूँ कि वर्तमान सरकार को क्या करना चाहिए? क्या उसे अतीत की तरह तानाशाही का मार्ग अपनाना चाहिए, या दो-तिहाई बहुमत की प्रतीक्षा करनी चाहिए, या फिर पूर्ववर्ती निर्णयों के आधार पर ही

आगे बढ़ना चाहिए? यदि ये मार्ग उपयुक्त नहीं हैं, तो फिर चौथा विकल्प क्या हो सकता है? प्रश्न करना सरल है, परंतु उसके यथार्थपरक उत्तर भी आवश्यक हैं। वर्तमान सरकार पिछले कई दशकों में निर्मित संवैधानिक ढाँचे को आधार बनाकर आगे बढ़ रही है और किसी भी प्रकार के संवैधानिक टकराव से बचने का प्रयास कर रही है। मेरे विचार से यह उसकी बाध्यता भी है।

वर्तमान वैश्विक व्यवस्था की चुनौतियाँ

हम लोगों ने पाँच दिनों तक रामानुजगंज में बैठकर इस विषय पर गंभीर विचार-मंथन किया कि साम्यवाद और इस्लामिक राजनीतिक व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त किया जाना चाहिए। किंतु वर्तमान विश्व की लोकतांत्रिक व्यवस्था इतनी अधिक अव्यवस्थित है कि वह तानाशाही और सांप्रदायिकता का प्रभावी ढंग से सामना नहीं कर पा रही है, क्योंकि लोकतंत्र अभी भी अपूर्ण है। इस परिस्थिति में हमने सामूहिक रूप से यह निर्णय लिया कि समस्त विश्व के समक्ष एक आदर्श लोकतंत्र का स्वरूप प्रस्तुत किया जाए। यही आदर्श लोकतंत्र वर्तमान समय की साम्यवादी और इस्लामी विचारधाराओं का संतुलित एवं प्रभावी विकल्प बन सकता है। साथ ही, यह व्यवस्था विश्व में बढ़ते हुए धन और शक्ति के असंतुलित प्रभाव का भी समाधान प्रस्तुत कर सकती है। इस नई राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण विश्व समाज के सामूहिक प्रयासों से किया जाएगा, जिसकी शुरुआत भारत से की जा रही है। इस संदर्भ में हमने देशभर में अपनी सक्रियता बढ़ाने की योजना बनाई है। यह कार्य पिछले छह महीनों से संस्थागत रूप से प्रारंभ भी हो चुका है, और अब हमारे अनेक साथी इसे और अधिक तीव्र गति से आगे बढ़ाने के लिए तत्पर हैं। वर्तमान वैश्विक राजनीतिक व्यवस्था आदर्श नहीं है, इसलिए एक बेहतर और आदर्श व्यवस्था का विकल्प विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। हम इस नई संवैधानिक व्यवस्था को "सहभागी लोकतंत्र" अथवा "लोक स्वराज" के नाम से आगे बढ़ा रहे हैं। मेरे विचार से, सहभागी लोकतंत्र या लोक स्वराज ही वर्तमान विश्व की समस्याओं का सर्वश्रेष्ठ समाधान है।

ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा और उनके त्याग का मूल्य

मैं बचपन से ही इस विचार का समर्थक रहा हूँ कि ब्राह्मणों ने समाज के लिए अधिक त्याग किया है। मेरा यह भी मानना है कि वर्तमान समय में जन्म से ब्राह्मणों में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक गरीबी और अधिक विद्वत्ता देखने को मिलती है। उनकी गरीबी, विद्वत्ता और त्याग को देखकर ही हम सबके मन में उनके प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु यह दुःखद है कि हमारे इस कर्तव्य को कुछ मुट्ठीभर ब्राह्मण अपना अधिकार समझने लगते हैं। हम वर्ण व्यवस्था के आधार पर ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानते रहे हैं और भविष्य में भी मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन यदि कोई ब्राह्मण स्वयं को श्रेष्ठ बताकर अन्य लोगों को निम्न स्तर का मानने लगे, तो यह स्वीकार्य नहीं है। ऐसे अहंकार का विरोध करना आवश्यक है। हम मुट्ठीभर लोगों की दादागिरी और अनुचित व्यवहार को स्वीकार नहीं कर सकते। ब्राह्मणों का सम्मान करना हमारा कर्तव्य है, न कि उनका स्वाभाविक अधिकार; क्योंकि वर्ण व्यवस्था में सभी को समान महत्व दिया गया है—कोई भी स्वभावतः उच्च या निम्न नहीं है। मैं पुनः स्पष्ट करना चाहता हूँ कि कुछ लोग संगठन की शक्ति के आधार पर अन्य वर्णों को निम्न समझने की भूल न करें। इसी प्रकार की भूल कुछ मामलों में शंकराचार्य द्वारा भी होती दिखाई देती है, जहाँ वे स्वयं को श्रेष्ठ मानने का आभास देते हैं। जबकि वास्तव में शंकराचार्य का सम्मान करना समस्त हिंदू समाज का कर्तव्य है, न कि उनका अधिकार। हाल के समय में मुक्तेश्वर आनंद के राजनीतिक हस्तक्षेप ने शंकराचार्य की प्रतिष्ठा को प्रभावित किया है, जिससे हिंदू समाज के सामने यह प्रश्न खड़ा हो गया है कि क्या शंकराचार्य हिंदू धर्म के प्रवक्ता हैं, या हिंदू धर्म स्वयं उनसे भी ऊपर है। मेरे विचार से वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को शंकराचार्य से भी ऊपर माना जाना चाहिए, और इन्हें ब्राह्मणों से भी अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। अतः अब ब्राह्मण और शंकराचार्य दोनों के लिए एक ऐसी परीक्षा व्यवस्था होनी चाहिए, जिसे उत्तीर्ण किए बिना न कोई ब्राह्मण बन सके और न ही शंकराचार्य।

वैश्विक स्तर पर पुरुष–महिला संबंधों की विविध दृष्टियाँ

पुरुष-महिला संबंधों को लेकर विश्व में मुख्यतः तीन प्रकार की सांस्कृतिक दृष्टियाँ दिखाई देती हैं। एक ओर कुछ देशों, जैसे अफगानिस्तान, में महिलाओं की स्वतंत्रता पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध लगाए जा रहे हैं। यह स्थिति चिंताजनक है और इससे यह प्रतीत होता है कि वहाँ महिलाओं को समान अधिकार नहीं मिल पा रहे हैं। दूसरी ओर, पश्चिमी देशों में महिलाओं को विशेष अधिकार देने और "महिला सशक्तिकरण" के नाम पर एक अलग प्रकार की विचारधारा विकसित हो रही है, जिसमें समानता के साथ-साथ कभी-कभी विशेषाधिकारों की भी मांग की जाती है। भारत की परंपरागत सांस्कृतिक दृष्टि इन दोनों से भिन्न रही है। यहाँ महिला और पुरुष के बीच मूल रूप से किसी भेद को स्वीकार नहीं किया गया, बल्कि दोनों को समान रूप से महत्वपूर्ण माना गया है। परिवार में महिला माँ, बहन, बेटी और पत्नी जैसे विभिन्न रूपों में अपनी भूमिका निभाती है। समय और परिस्थिति के अनुसार उसकी भूमिकाएँ बदलती रहती हैं, किंतु उसके सम्मान और अधिकारों में कोई भेद नहीं होना चाहिए—यह मूल भावना रही है। भारतीय पारिवारिक व्यवस्था में प्रत्येक सदस्य को

सहभागी के रूप में देखा जाता है, केवल सहयोगी के रूप में नहीं, चाहे वह महिला हो या पुरुष। हालांकि, ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण इस मूल भावना में कहीं-कहीं विचलन भी आया है, जिसे समझने और सुधारने की आवश्यकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि विश्व के सभी समाज महिला और पुरुष को समान रूप से मनुष्य मानें और उनके बीच किसी प्रकार का अनुचित भेदभाव न करें। समानता, सम्मान और संतुलन पर आधारित दृष्टिकोण ही एक स्वस्थ और न्यायपूर्ण समाज की नींव रख सकता है।

समाज में व्यक्तियों के प्रकार और उनकी भूमिकाएँ

पूरी दुनिया में सामान्यतः तीन प्रकार के लोग देखे जाते हैं—धूर्त, समझदार और मूर्ख। इतिहास बताता है कि धूर्त लोग अक्सर मूर्खों का उपयोग करके समझदार व्यक्तियों को किनारे करने का प्रयास करते हैं, और यह प्रवृत्ति समय-समय पर दोहराई जाती रही है। यह भी कहा जाता है कि धूर्त व्यक्ति प्रायः परोक्ष रूप से कार्य करता है, जबकि मूर्ख व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से सामने आकर नुकसान पहुँचाता है। लगभग 100 वर्ष पूर्व की घटना में, नाथूराम गोडसे द्वारा महात्मा गांधी की हत्या को कुछ लोग इसी दृष्टिकोण से देखते हैं। यह घटना इतिहास का अत्यंत संवेदनशील और जटिल अध्याय है, जिसकी विभिन्न व्याख्याएँ की जाती रही हैं। वर्तमान भारत की राजनीति में भी तीव्र मतभेद और वैचारिक टकराव दिखाई देते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि राहुल गांधी, नरेंद्र मोदी और मोहन भागवत जैसे नेताओं के बीच चल रहा विरोध इसी व्यापक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का हिस्सा है। हालाँकि, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में असहमति और आलोचना स्वाभाविक एवं आवश्यक तत्व हैं, और इन्हें अलग-अलग दृष्टिकोणों से समझा जाना चाहिए। पिछले 100 वर्षों के संदर्भ में महात्मा गांधी को विश्व स्तर पर एक अत्यंत प्रभावशाली और विचारशील नेता के रूप में देखा जाता है। उनके विचारों और कार्यों का प्रभाव न केवल भारत, बल्कि पूरी दुनिया में व्यापक रूप से माना गया है। वर्तमान समय में भी विभिन्न नेता अपने-अपने तरीके से समाज और राष्ट्र के लिए कार्य कर रहे हैं, और उनके योगदान का मूल्यांकन समय के साथ होता रहेगा। इसी प्रकार, ऐतिहासिक व्यक्तियों और वर्तमान नेताओं की तुलना करना एक जटिल विषय है, जिसमें अलग-अलग लोगों की अलग-अलग राय हो सकती है। इसलिए आवश्यक है कि हम किसी भी विषय पर संतुलित दृष्टिकोण अपनाएँ और तर्क, तथ्य तथा संवाद के आधार पर विचार करें। मेरे विचार से, समाज में स्वस्थ विमर्श तभी संभव है जब हम भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के बजाय तर्कपूर्ण चर्चा को महत्व दें। असहमति होना स्वाभाविक है, लेकिन उसे अभद्रता के बजाय विचारशीलता के साथ व्यक्त किया जाना चाहिए।

राज्य और स्वतंत्रता का संतुलन

कल हमने इस विषय पर चर्चा की थी कि राज्य प्रायः "समानता" जैसे शब्दों का उपयोग करते हुए कई बार स्वतंत्रता के क्षेत्र को सीमित करने का प्रयास करता है। इसके साथ ही, राज्य यह भी कोशिश करता है कि नागरिकों को अधिकाधिक सुविधाएँ देकर उन्हें संतुष्ट रखा जाए। इन सुविधाओं के दो प्रमुख प्रभाव दिखाई देते हैं। एक ओर, आम जनता के बीच स्वतंत्रता की माँग अपेक्षाकृत कमज़ोर पड़ जाती है; दूसरी ओर, अधिक संसाधनों के वितरण के कारण व्यवस्था में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की चुनौतियाँ भी बढ़ सकती हैं। यदि इस पर गंभीरता से विचार किया जाए, तो यह देखा जा सकता है कि कई सरकारें अपने बजट में तीव्र वृद्धि को उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसका अर्थ यह भी होता है कि कर-संग्रह में वृद्धि हुई है, जो आगे चलकर राज्य की भूमिका और प्रभाव को और व्यापक बनाती है। जितना अधिक संसाधनों का केंद्रीकरण होगा, उतनी ही अधिक सावधानी पारदर्शिता, जवाबदेही और निष्पक्षता बनाए रखने के लिए आवश्यक हो जाती है। अन्यथा, पक्षपात और भ्रष्टाचार की संभावनाएँ बढ़ सकती हैं। साथ ही, जब नागरिक सुविधाओं पर अधिक निर्भर हो जाते हैं, तो वे अनजाने में अपनी कुछ स्वतंत्रताओं के प्रति कम सजग हो सकते हैं। वर्तमान समय में यह भी देखा जा सकता है कि चुनावों के दौरान बड़ी संख्या में लोग सुविधाओं और लाभों को प्राथमिकता देते हैं। यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा है, लेकिन इसके साथ यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या हम स्वतंत्रता और अधिकारों के मूलभूत मूल्य पर पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं। मेरे विचार से, समाज में इस विषय पर संतुलित जागरूकता की आवश्यकता है। नागरिकों को यह समझना चाहिए कि सुविधाएँ और स्वतंत्रता दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, और एक स्वस्थ व्यवस्था वही होगी जिसमें इन दोनों के बीच संतुलन बना रहे।

भारत में भावना प्रधान और बुद्धि प्रधान लोगों का विभाजन

भारत में लगभग 90% लोग भावना प्रधान होते हैं, जबकि केवल 10% लोग बुद्धि प्रधान माने जाते हैं। यह 90% लोग न तो समस्याएँ उत्पन्न करते हैं और न ही उनका समाधान कर पाते हैं। वहीं, वह 10% लोग जो बुद्धि प्रधान होते हैं, अक्सर समस्याएँ पैदा भी करते हैं और उनका समाधान भी प्रदान करते हैं। यही 10% लोग समाज और राजनीति में 90% भावना प्रधान लोगों के संचालक बन जाते हैं।दुर्भाग्यवश, वर्तमान समय में इन 10% बुद्धि प्रधान लोगों में समस्याएँ पैदा करने वालों की संख्या बढ़

रही है। वे हिंसा और स्वार्थ को हथियार बनाकर सत्ता और संसाधनों का केंद्रीकरण करना चाहते हैं। यही लोग राजनीति में सक्रिय रहते हैं और वे चाहते हैं कि 90% लोग भावना प्रधान बने रहें, कभी समझदार न बनें। इसके लिए वे भावना प्रधान प्रवचन देते रहते हैं और चर्चाओं को केवल भावनात्मक स्तर पर सीमित रखने का प्रयास करते हैं। वर्तमान भारत में राज्य भी लगभग बुद्धि प्रधान लोगों के नियंत्रण में है और राज्य लगातार यह सुनिश्चित करता है कि बहसें और चर्चाएँ भावना प्रधान तरीके से ही हों। संसद में भी अक्सर बौद्धिक चर्चा, तर्क-वितर्क या उचित-अनुचित पर विचार नहीं होते; पक्ष और विपक्ष केवल नाटकीय रूप से विभाजित रहते हैं। अब समय आ गया है कि हम सत्ता प्रतिष्ठान को वैचारिक और तर्कपूर्ण चर्चा के लिए तैयार करें। समस्या बहुत बड़ी है और समाधान के अलावा कोई विकल्प नहीं है। हमें कहीं से शुरुआत करनी होगी, और यह शुरुआत हमारी ही जिम्मेदारी बनती है। इस कार्य के लिए हम दलगत राजनीति से मुक्त राजनीतिक व्यवस्था की दिशा में कदम बढ़ाएँ। हमें संविधान में ऐसा संशोधन करना चाहिए कि निर्वाचित व्यक्ति दल का प्रतिनिधि न हो, बल्कि जनप्रतिनिधि बने। संसद में दलीय आधार पर चर्चा न होकर, यथार्थ और तर्क पर आधारित चर्चा हो। संसद में हर प्रतिनिधि स्वतंत्र हो, किसी दल का गुलाम न हो, ताकि निर्णय और बहस केवल देश और जनता के हित में हों।

वैश्विक शक्तियों का स्वरूप और उनके तुलनात्मक पहलू

ईरान–अमेरिका टकराव का कारण स्पष्ट है। वर्तमान विश्व में दो समानांतर शक्तियाँ हैं, जो आपस में टकराने की क्षमता रखती हैं—एक नाटो और दूसरी कम्युनिस्ट संगठन। ये दोनों आर्थिक और सामरिक दृष्टि से लगभग समान रूप से शक्तिशाली मानी जाती हैं। इस्लामी शक्ति आबादी के आधार पर तो समकक्ष है, लेकिन आर्थिक और सामरिक दृष्टि से यह एकजुट नहीं है। शिया और सुन्नी में बंटे होने के कारण इस्लामी शक्ति अक्सर समय-समय पर अपनी नीति बदलती रहती है और अमेरिका या चीन के प्रति अपना दृष्टिकोण फेर बदलती रहती है। चौथी शक्ति के रूप में भारत को देखा जा सकता है। आबादी के आधार पर भारत लगभग समकक्ष है, लेकिन सामरिक दृष्टि से नाटो या कम्युनिस्ट संगठन से अभी कमजोर है। आर्थिक रूप से भारत लगातार सशक्त हो रहा है, फिर भी वर्तमान में दोनों से कुछ पीछे है। भारत कभी इन दोनों शक्तियों को चुनौती नहीं देता, बल्कि संतुलन और तालमेल बनाए रखता है। ईरान पश्चिम के लिए चुनौती बन रहा था। ईरान चौथी शक्ति बनने की दिशा में था और यह अमेरिका को स्वीकार्य नहीं था। अमेरिका नहीं चाहता था कि ईरान मुस्लिम देशों का नेता बने या परमाणु संपन्न देश बन जाए, क्योंकि इस स्थिति में ईरान चौथी महाशक्ति बनने की कोशिश करेगा। यदि ईरान किसी परिस्थिति में कम्युनिस्ट शक्ति के साथ एकजुट हो जाता, तो अमेरिका के लिए गंभीर संकट उत्पन्न हो सकता था। भारत हमेशा बीच में संतुलन बनाए रखता है, लेकिन ईरान अकेला नहीं रहेगा; वह गुट बनाएगा। इसके अलावा, ईरान की संस्कृति मुस्लिम होने के कारण आक्रमक मानी जाती है, जबकि भारत की संस्कृति हिंदू होने के कारण शांति प्रिय मानी जाती है। यही कारण है कि अमेरिका ने ईरान पर आक्रमण करने का निर्णय लिया। अमेरिका जानता था कि इस कदम से उसे जोखिम उठाना पड़ेगा, लेकिन यदि अभी ईरान को नहीं रोका गया तो भविष्य में उसे रोकना असंभव हो सकता था। इस दृष्टि से अमेरिका का यह निर्णय वर्तमान स्थिति के अनुसार रणनीतिक रूप से उचित माना जा सकता है।

राहुल गांधी का व्यक्तिगत गुण और ईमानदारी

राहुल गांधी में एक विशेष गुण यह है कि वे जानबूझकर झूठ नहीं बोलते और उनकी भाषा स्पष्ट और सीधे शब्दों में होती है। वे राजनीति में भ्रष्टाचार को रोकने के पक्षधर हैं। वर्तमान भारत में वे धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी को स्वच्छ बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इस सफाई अभियान के परिणामस्वरूप गंदी राजनीति के प्रतीक, जैसे मणि शंकर अय्यर और नवजोत सिंह सिद्धू, कांग्रेस पार्टी छोड़ चुके हैं। उनके इतिहास और व्यवहार को देखकर यह स्पष्ट होता है कि राहुल गांधी अपनी पार्टी में अनुशासन और पारदर्शिता बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं। भविष्य में कांग्रेस पार्टी इस सफाई अभियान के परिणामस्वरूप मजबूत होगी या नहीं, यह समय ही बताएगा। लेकिन राहुल गांधी की नियत पर किसी तरह का संदेह नहीं किया जा सकता। वे जिस कार्य को करने का निर्णय लेते हैं, उस पर दृढ़ रहते हैं। वर्तमान समय में राहुल गांधी सैम पित्रोदा की सलाह पर काम कर रहे हैं। सैम पित्रोदा एक चालाक व्यक्ति हैं और उन्होंने राहुल गांधी को यह आश्वासन दिया है कि वे शीघ्र ही प्रधानमंत्री बन सकते हैं। हालांकि, ऐसा प्रतीत होता है कि राहुल गांधी में चपरासी बनने जैसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, और भविष्य में यदि पित्रोदा की कोई योजना है, तो उन्हें उसका पता चल जाएगा। फिर भी, राहुल गांधी एक भले और नेकदिल व्यक्ति हैं, जो राजनीति में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाए हैं और वर्तमान में भी ऐसा ही प्रतीत होता है। एक भले व्यक्ति का जीवन राजनीति में इस तरह व्यर्थ गुजरना निश्चित रूप से दुःखद है, लेकिन इस स्थिति में कुछ करना फिलहाल संभव नहीं प्रतीत होता।

राहुल गांधी और संसद में व्यवधान का उद्देश्य

मैं वर्षों से यह समझने की कोशिश कर रहा था कि आखिर वह कारण क्या है जिसके चलते राहुल गांधी संसद

को सुचारू रूप से चलने नहीं देते। उनका प्रयास यह रहता है कि लोकसभा और राज्यसभा दोनों में व्यवधान उत्पन्न हो, लेकिन विशेष रूप से लोकसभा में अधिक हंगामा किया जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि लोकसभा के चलने से उन्हें बड़ा राजनीतिक नुकसान दिखाई देता है। मेरी जानकारी और विश्लेषण के अनुसार, संसद में यदि नरेंद्र मोदी या अमित शाह कोई बात उठाकर बोलते हैं, तो आम जनता उसे ध्यानपूर्वक सुनती है और प्रभावित भी होती है। इसके विपरीत, विपक्ष के किसी नेता से ऐसा प्रभाव आम जनता पर नहीं पड़ता। जबकि राहुल गांधी को सुनने वालों की संख्या बढ़ रही है, प्रभावित होने वालों की संख्या लगातार कम हो रही है। इस कारण से, संसद के नियमित चलने से कांग्रेस पार्टी और राहुल गांधी को राजनीतिक नुकसान हो रहा है। इसलिए संसद को रोकने का उनका प्रमुख तरीका हंगामा करना और कार्यवाही को बाधित करना है। सरकार भी इस स्थिति से अप्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट है, क्योंकि उनके दृष्टिकोण से ऐसा होने से संसद का काम रुकता नहीं, विधेयक पास होते रहते हैं, कानून बनते रहते हैं, और विपक्ष का विपक्षी रूप जनता के सामने कमजोर दिखता है। इसी कारण सत्ता पक्ष भी संसदीय कार्यवाही को पूरी तरह सुचारू रूप से चलने देना नहीं चाहता। अंततः, आम जनता भी इस "मछली बाजार" जैसी स्थिति में संसदीय कार्यवाही में रुचि नहीं लेती। यही कारण है कि आजकल लोग संसद की कार्रवाई देखना पसंद नहीं करते और लोकतांत्रिक चर्चा का प्रभाव सीमित होता जा रहा है।

एआई का अर्थ और वैश्विक चर्चा

एआई का हिंदी में अर्थ "कृत्रिम बुद्धि" है। मैं इस विषय में बहुत गहराई तक विशेषज्ञ नहीं हूँ, लेकिन पूरी दुनिया में इस पर चर्चा हो रही है कि क्या एआई श्रम को बेरोजगार कर रहा है, और क्या यह हमारे लिए समस्या है या समाधान। इस विषय पर मैंने कुछ विचार किए हैं। मेरा दृष्टिकोण यह है कि प्राकृतिक बुद्धिमत्ता और तकनीकी उपकरण पहले ही श्रम पर असर डाल चुके हैं। कई प्रकार की मशीनों और तकनीकों के अविष्कार ने श्रमिकों की भूमिका को प्रभावित किया है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि यदि एआई की तकनीक और विकसित होगी, तो उसका प्रभाव श्रम पर पड़ेगा। श्रम का महत्व कम हो सकता है। लेकिन दूसरी तरफ, यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि एआई अधिकतर बुद्धिजीवियों को प्रभावित करेगा। जिन बुद्धिजीवियों ने पहले मशीनों और तकनीक के माध्यम से श्रम को प्रभावित किया, एआई उन्हें वापस श्रम की ओर खींच सकता है। इसका अर्थ यह है कि श्रमजीवियों को एआई से प्रत्यक्ष नुकसान नहीं होगा। मुझे यह पक्ष अधिक सही प्रतीत होता है—एआई बुद्धिजीवियों को बेरोजगार करेगा, श्रमजीवियों को कम। हम तकनीक प्रतिस्पर्धा और विकास का महत्वपूर्ण आधार है। इसलिए हमें एआई के विकास को बढ़ावा देना चाहिए, साथ ही यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इसका प्रत्यक्ष नुकसान श्रमजीवियों को न हो। इसके लिए एक तरीका अपनाया जा सकता है: एआई का विकास तेज़ी से होता रहे, लेकिन उससे प्राप्त लाभ इतना महंगा या सीमित हो कि श्रमजीवियों का रोजगार सुरक्षित रहे। श्रम और एआई के आपसी संबंध को प्रशासनिक उपायों से नहीं, बल्कि आर्थिक आधार पर सुलझाया जा सकता है। मेरा सुझाव है कि श्रम की मांग मूल्य और एआई के विकास को तुलनात्मक रूप से विकसित किया जाए। इससे एआई के तेज़ विकास को कोई रोक नहीं पाएगा और साथ ही श्रमजीवियों की सुविधा और रोजगार भी सुरक्षित रहेंगे।

भारत में प्रधानमंत्री बनने के प्रयास और उनका सामाजिक प्रभाव

का विरोध नहीं कर सकते क्योंकि तकनीक ही दुनिया में भारत में कई व्यक्तियों ने प्रधानमंत्री बनने के प्रयास किए, लेकिन कुछ ऐसे प्रयास समाज के व्यापक हित के विपरीत माने जा सकते हैं। इन प्रयासों में प्रमुख रूप से तीन व्यक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है—पंडित जवाहरलाल नेहरू, भीमराव भीमराव अंबेडकर और दिग्विजय सिंह। पंडित नेहरू के कार्यकाल में ऐसा प्रतीत होता है कि वे चाहते थे कि लंबे समय के बाद मुस्लिम आबादी बहुमत में आए और उनके परिवार के सदस्य लगातार प्रधानमंत्री पद पर बने रहें। उनके शासन में हिंदुओं और अन्य समुदायों के साथ कुछ असंतुलित नीतियाँ देखी गईं, जिससे यह धारणा बनती है कि नेहरू की प्राथमिक योजना भारत को मुस्लिम बहुल देश बनाने की थी। भीमराव अंबेडकर की योजना कुछ अलग थी। वे चाहते थे कि आदिवासी, दलित और महिलाएँ मिलकर पूर्ण बहुमत बनाएं, ताकि नेहरू की योजना को पलटा जा सके और वे राजनीति में प्रभावी भूमिका निभा सकें। दिग्विजय सिंह ने भी यह प्रयास किया कि यदि नक्सलवादियों की सरकार सत्ता में आए, तो वे स्वयं प्रधानमंत्री बन सकें। उनके कार्यक्रम और रणनीतियों में ऐसे संकेत मिलते हैं कि वे कुछ सहयोगियों के साथ मिलकर इस दिशा में काम कर रहे थे। इसी कारण उन्होंने नक्सलवाद को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। हालाँकि, नेहरू की योजना वर्तमान भारत में सफल नहीं हो सकी, क्योंकि संघ परिवार ने इसे निरंतर विरोध किया। अंबेडकर की योजना उनके निधन के बाद आगे नहीं बढ़ सकी, और दिग्विजय सिंह की योजना को वर्तमान सरकार ने पूरी तरह असफल कर दिया। इस तरह, वर्तमान समय में प्रधानमंत्री बनने के लिए किसी भी तरह की पुरानी तिकड़म लगभग असफल हो गई है। अब भारत का प्रधानमंत्री वही बनेगा, जिसे जनता का भरोसा प्राप्त हो, और जो समान नागरिक संहिता के सिद्धांतों के

अनुसार जाति, धर्म या क्षेत्र से ऊपर उठकर सभी नागरिकों के हित में कार्य करे।

मनोरंजन और व्यावसायिक बहस का अनुभव

मैंने अपने जीवन में कई बार कव्वालियाँ अटेंड की हैं। जब हम कव्वाली सुनने जाते हैं, तो मंच पर कव्वाल आपस में जिस तरह तुकबंदियाँ करते हैं, हमें उसमें बहुत मज़ा आता है। भले ही उनकी बहस व्यावसायिक होती है, वास्तविक नहीं होती। इसी तरह, जब हम न्यायालय जाते हैं, दोनों पक्ष के वकील न्यायाधीश के सामने जिस तरह बहस करते हैं, वह भी हमें रोचक और मनोरंजक प्रतीत होती है, फिर भी वह बहस व्यावसायिक है, वास्तविक नहीं। हम रामलीला देखने जाते हैं; दो भाई राम और रावण बनकर जिस तरह युद्ध करते हैं, वह भी हमें बहुत आकर्षक लगता है, जबकि वह युद्ध भी व्यावसायिक है, वास्तविक नहीं। ऐसे ही, जब संसद में दो पक्षों के राजनेता एक-दूसरे के खिलाफ खड़े होकर नोक-झोंक करते हैं, तो जनता को वह देखने में मज़ा आता है। लेकिन वास्तव में उनकी नोंक-झोंक व्यावसायिक होती है, वास्तविक नहीं। संसद आज एक प्रकार का “मछली बाजार” बन चुकी है, जहाँ वास्तविकता का कोई लेना-देना नहीं है। जैसा कव्वाली में होता है, रामलीला में होता है, नाटक बाज़ी में होता है, न्यायालय में होता है—सदन में भी वैसा ही मनोरंजन और व्यावसायिक प्रदर्शन होता है। यह सच है कि ऐसे सभी स्थानों में हमें मनोरंजन मिलता है, क्योंकि लोगों के पास प्रसन्न करने की कला होती है। लेकिन दुख की बात यह है कि अब हमारी संसद की तुलना भी ऐसे व्यावसायिक और मनोरंजक स्थान से होने लगी है।

अमेरिका और ईरान के बीच संघर्ष: एक रणनीतिक विश्लेषण

अमेरिका और ईरान के बीच युद्ध लगातार जारी है। इसमें कौन जीतेगा और कौन हारेगा, यह अभी निश्चित नहीं है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि ईरान ने इस संघर्ष में उतरकर मूर्खता की है। यह जगजाहिर है कि दुनिया में मुख्य रूप से दो ही शक्तियाँ हैं—एक लोकतांत्रिक ताकत और दूसरी तानाशाही ताकत। लोकतांत्रिक शक्ति के रूप में अमेरिका के नेतृत्व को देखा जा सकता है, जबकि तानाशाही शक्ति के रूप में चीन का नेतृत्व सर्वोपरि है। इन दोनों महाशक्तियों के बीच कुछ ऐसे देश भी अस्तित्व बनाए रख सकते हैं, जो दोनों के साथ अच्छे संबंध रखकर स्वतंत्र बने रहते हैं। इस श्रेणी में कई मुस्लिम देश, भारत और अन्य राष्ट्र शामिल हैं। परंतु ईरान ने अनावश्यक 'अकड़' दिखाने की गलती की। उसने स्वयं को एक तीसरी शक्ति के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया, जबकि उसके पास वैसी सामरिक या आर्थिक क्षमता नहीं थी। ईरान को अपने नागरिकों पर हिजाब थोपने के लिए इतनी कठोरता और 'गुंडागर्दी' करने की क्या आवश्यकता थी? क्या दुनिया इस दमन को चुपचाप स्वीकार कर लेती? इसके अतिरिक्त, हिज्बुल्लाह, हमास और हूती जैसे संगठन खड़े करके अन्य देशों में अस्थिरता पैदा करने की ईरान को क्या जरूरत थी? क्या दुनिया इतनी अंधी है कि वह ईरान की इन गलतियों को अनदेखा कर दे? संभवतः ईरान को यह अटूट विश्वास था कि अमेरिका एक लोकतांत्रिक देश है, इसलिए वह उसके साथ अन्याय या अनैतिक व्यवहार नहीं करेगा। लेकिन इस बात की क्या गारंटी है कि भविष्य में अमेरिका में ट्रंप जैसा कोई कड़ा रुख अपनाने वाला नेता सत्ता में नहीं आएगा? और यदि ऐसा हुआ, तो क्या ईरान उस चुनौती के सामने टिक पाएगा? वियतनाम, अफगानिस्तान और क्यूबा जैसे देशों के उदाहरण सामने हैं, जो अमेरिका से टकराने के बाद आज तक पूरी तरह उबर नहीं पाए हैं। ईरान को इन ऐतिहासिक घटनाओं से सबक लेना चाहिए था। मैं यह नहीं कह रहा कि अमेरिका के सभी कार्य लोकतांत्रिक हैं, न ही मैं ट्रंप के निर्णयों को सही ठहरा रहा हूँ। मेरा तर्क केवल इतना है कि वर्तमान परिस्थितियों में ईरान ने अपनी सीमाओं को समझे बिना जोखिम उठाकर मूर्खता की है। जिस वैश्विक व्यवस्था में न्याय और अन्याय का निपटारा 'शक्ति' के आधार पर होता हो, वहाँ अपनी सामर्थ्य का सही आकलन किए बिना संघर्ष मोल लेना नासमझी ही मानी जाएगी। इस मामले में रणनीति और कूटनीति की सीख ईरान को नरेंद्र मोदी से लेनी चाहिए थी। क्या आप इस लेख को किसी समाचार पत्र के स्तंभ के रूप में उपयोग करना चाहेंगे या इसे सोशल मीडिया पोस्ट के प्रारूप में ढालना चाहेंगे?

अवसर और आपदा के बीच का अंतर

ऐसा समय जीवन में कभी-कभी आता है जब अवसर के दरवाजे खुले रहते हैं, लेकिन हम उन्हें भूल से आपदा समझ बैठते हैं। वर्तमान युद्ध भारत के लिए ठीक ऐसा ही अवसर लेकर आया है। ईरान और अमेरिका आपस में टकरा रहे हैं। भारत का इस टकराव से कोई सीधा लेना-देना नहीं है, लेकिन इसके परिणामस्वरूप भारत के लिए अप्रत्यक्ष अवसर पैदा हुए हैं। सच तो यह है कि ट्रंप की बढ़ती ताकत और ईरान की शक्ति का विस्तार भारत के लिए चुनौतीपूर्ण था। अब दोनों शक्तियाँ आपस में टकराकर कमजोर हो रही हैं, और यह भारत के लिए लाभकारी स्थिति बन सकती है। इसके साथ ही, भारत तेल आयात पर निर्भर है, जबकि मीठे पानी के मामले में पर्याप्त संसाधन रखता है। वर्तमान संकट में तेल की कीमत बढ़ने की संभावना है, जो भारत के लिए अवसर हो सकता है—इससे भारत अपनी तेल खपत कम कर सकेगा, अर्थव्यवस्था सुधरेगी और पर्यावरण भी बेहतर होगा। दूसरी

ओर, मीठे पानी का निर्यात बढ़ाकर खाड़ी देशों की पानी की कमी को पूरा किया जा सकता है। इस तरह, भारत को दोहरे लाभ मिल सकते हैं—आर्थिक और पर्यावरणीय। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि विपक्ष और सरकार मिलकर रणनीति तैयार करें। विपक्ष को सरकार से इस दिशा में स्पष्ट मांग करनी चाहिए और सरकार को उस पर सहमत होना चाहिए। जब सभी पक्ष मिलकर इस आपदा को अवसर में बदलने का प्रयास करेंगे, तभी भारत इस स्थिति से पूर्ण लाभ उठा सकेगा। ईश्वर भारत के विपक्षी दलों को सद्बुद्धि दे कि वे इस दिशा में गंभीरता से सोचें और देश के सर्वोत्तम हित के लिए काम करें।

जूम चर्चा कार्यक्रम

परिवार व्यवस्था का टूटना: कारण और व्यवस्था का प्रश्न

कल रात मां संस्थान द्वारा संचालित ज़ूम चर्चा कार्यक्रम में परिवार व्यवस्था के टूटने के विषय पर महत्वपूर्ण विमर्श हुआ। इस चर्चा में देश के विभिन्न हिस्सों से लगभग 20 से अधिक लोग जुड़े। सभी प्रतिभागियों ने अपने अनुभव और विचार साझा किए, लेकिन एक बात लगभग सभी की बातों में समान रूप से उभरकर सामने आई—परिवार की महत्ता। सभी ने इस बात को स्वीकार किया कि सहजीवन की पहली पाठशाला परिवार ही होता है। परिवार केवल सुरक्षा और पोषण देने वाली इकाई भर नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति को सामाजिक जीवन जीने का प्रशिक्षण भी देता है। यहीं व्यक्ति दूसरों के साथ रहना, समझना, सहयोग करना और जिम्मेदारी निभाना सीखता है। आज परिवारों के टूटने का सीधा प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार में दिखाई देने लगा है। व्यक्ति की सिविक्स सेंस, अर्थात सामाजिक समझ और जिम्मेदारी का भाव, लगातार कमजोर हो रहा है। जब सामाजिक समझ कमजोर होती है तो व्यक्ति सही समय पर सही निर्णय लेने में असफल रहता है। ऐसे गलत निर्णय धीरे-धीरे व्यक्ति के विघटन और समाज की अव्यवस्था का कारण बनते हैं। प्रश्न यह है कि सभ्यता, पोषण और सुरक्षा की सबसे महत्वपूर्ण इकाई होने के बावजूद परिवार निरंतर क्यों टूटते जा रहे हैं? समाज और मानवता की चिंता करने वाली अनेक संस्थाएँ परिवारों को मजबूत करने की बात करती हैं और कई प्रयास भी करती हैं, फिर भी परिवारों की टूटन रुकती हुई दिखाई नहीं देती।

यहाँ “व्यवस्था” के प्रश्न को समझना आवश्यक है। व्यवस्था का अर्थ है वह ढांचा जो जीवन को व्यवस्थित बनाए। ऐसी व्यवस्था की जिम्मेदारी चार आयामों पर काम करने की होती है—सुरक्षा, न्याय, पोषण और विकास। इन चारों को समझने के लिए व्यवस्था को दो भागों में देखा जा सकता है। पहला भाग है सुरक्षा और न्याय। इसकी आवश्यकता व्यक्ति की उच्चश्रृंखलता के कारण पड़ती है। मनुष्य जब अनुशासन से बाहर जाता है, तब समाज को ऐसी इकाइयों की आवश्यकता होती है जो नियंत्रण और न्याय का कार्य कर सकें। इसलिए सुरक्षा और न्याय से जुड़ी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्यक्ष भागीदारी आवश्यक होती है।दूसरा भाग है पोषण और सभ्यतागत विकास। यह कार्य बाहरी नियंत्रण से नहीं, बल्कि व्यक्ति के भीतर मौजूद सहजीवन की भावना से संचालित होता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और समाज में रहना उसकी स्वाभाविक आवश्यकता है। इसी कारण लोक-कल्याण का विचार जन्म लेता है।यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि व्यक्ति का व्यवहार उसकी प्रवृत्तियों से संचालित होता है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर मनुष्य को देव, असुर या मानव जैसी श्रेणियों में समझा जा सकता है। किंतु सहजीवन वह तत्व है जो सबको सामाजिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करता है। सामाजिकता ही लोक-कल्याण की आधारशिला है।

इसी कारण यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि लोक-कल्याणकारी कार्यों का संचालन किनके हाथ में होना चाहिए। यदि सहजीवन सामाजिकता का आधार है, तो स्वाभाविक रूप से वे ही लोग इस भूमिका के लिए उपयुक्त होंगे जिनके जीवन में सहजीवन का वास्तविक अभ्यास है। और सहजीवन का सबसे स्वाभाविक रूप परिवार में ही दिखाई देता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि लोक-कल्याणकारी व्यवस्था का संचालन परिवारों के हाथ में होना चाहिए। किंतु वर्तमान व्यवस्था में ऐसा नहीं है। आज लोकतांत्रिक व्यवस्था “जन-कल्याणकारी राज्य” की अवधारणा पर आधारित है, और इसके संचालन की जिम्मेदारी “नागरिक” नामक एकांकी व्यक्ति पर है। यह व्यवस्था सत्ता पक्ष और विपक्ष के दो ध्रुवों में विभाजित होकर अक्सर लोकहित से अधिक लोकप्रियता से संचालित होने लगती है। सरों की गणना पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था का यह व्यक्तिवादी स्वरूप परिवार जैसी सामूहिक इकाइयों की उपेक्षा को प्रेरित करता है। परिणाम यह होता है कि परिवारों को मजबूत करने के तमाम सामाजिक प्रयास भी उस मूल कारण को नहीं छू पाते जो परिवारों के विघटन के पीछे काम कर रहा है। इसलिए जब तक व्यवस्था के केंद्र में व्यक्ति नहीं बल्कि परिवार को स्थान नहीं दिया जाएगा, तब तक परिवारों को बचाने के प्रयास अधूरे ही रहेंगे।

साथियों की कलम से

धर्म तथा इसके समानार्थी शब्दों की वैचारिक समीक्षा:- नरेंद्र सिंह

दुनिया भर में समाज व्यवस्था के प्रबन्धन हेतु प्रयोग में आने वाले शब्दों की व्याख्या मुख्यतः दो आधारों पर की जाती रही है। (1) शब्द की व्युत्पत्ति अथवा उसके धातुकर्म के आधार पर, तथा (2) शब्द को तदर्थ व्यवहार में लाने के लिए परिस्थिति के अनुसार। स्पष्ट है कि पहले प्रकार की व्याख्या में व्याकरण के नियमों का पालन होता है, जबकि दूसरे प्रकार की व्याख्या का आधार किसी तात्कालिक मत को स्पष्ट करना होता है। समाज में 'धर्म' शब्द की व्याख्या भी विभिन्न देशकाल में कभी इसके धातुकर्म के अनुसार हुई है तो कभी इसके निहितार्थ को सिद्ध करने के लिए परिस्थितिजन्य अर्थों में की गई है। इस विषय को उदाहरण के रूप में देखा जाए तो जनसाधारण ने मज़हब, दीन, पन्थ, रिलिजन और सनातन जैसे शब्दों को प्रायः धर्म के समकक्ष माना है। किन्तु जब धर्म के गुणधर्म पर विचार किया जाता है तो इन शब्दों के व्याकरणात्मक और वैचारिक अर्थों में गम्भीर एवं स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। अतः इस विमर्श में इन शब्दों का वास्तविक परिप्रेक्ष्य समझने के लिए इनकी व्युत्पत्ति और अर्थ की सूक्ष्म समीक्षा करना आवश्यक प्रतीत होता है। आइए, इस समीक्षा में सबसे पहले मज़हब शब्द पर विचार करते हैं। मज़हब मूलतः अरबी भाषा का शब्द है और यह अरबी के 'ज़हब' (ध-ह-ब) शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है। इसका मूल अर्थ 'जाना' या 'मार्ग पर चलना' है। इस दृष्टिकोण से मज़हब उस मार्ग या पद्धति को इंगित करता है जिस पर चलकर कोई व्यक्ति अपने साध्य या लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस्लामी मान्यता के अनुसार यह अल्लाह की ओर जाने के मार्ग का संकेत करता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि अरब जगत में यह शब्द इस्लाम की स्थापना और उसके प्रचार-प्रसार से पहले अस्तित्व में नहीं था! किन्तु यह अनुमान यथार्थ के निकट प्रतीत होता है कि इस्लाम से पूर्व यह शब्द किसी तथाकथित पूर्ण अथवा बन्द व्यवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं करता होगा। क्योंकि उस समय अरब समाज में जनजातीय आस्थाओं और बहुदेववादी परम्पराओं का प्रभाव था। इस्लामी फ़िक़्ह (विधान) के प्रभाव के बाद मज़हब शब्द एक सम्पूर्ण और सर्वकालिक व्यवस्था का प्रतीक बन गया। इसका कारण यह था कि इस्लाम की संरचना को निर्धारित करने वाले लोगों ने इसे अल्लाह के आदेश के रूप में स्वीकार किया। परिणामतः इसके ढाँचे पर तर्क करने या संशोधन करने का अधिकार किसी व्यक्ति या समुदाय को प्राप्त नहीं रहा। यद्यपि यह भी सच है कि अपने प्रचार-प्रसार के लिए अपनाई गई इस पद्धति ने इस्लाम को अन्य संस्कृतियों का प्रतिद्वन्दी बना दिया। भारत में इस्लामी मज़हब के आगमन ने अपने साम्प्रदायिक लक्षण के आधार पर यहाँ के तर्कप्रधान धर्म-दर्शन को भी साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्व के क्षेत्र में ला दिया। एतिहासिक परिप्रेक्ष्य हमे बताता है कि भारतीयों के लिए अस्तित्व की रक्षा के लिए यह प्रतिद्वन्द्व अनिवार्य हो गया था। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारत में मज़हब शब्द की व्याख्या धर्म के रूप में होने लगी, यद्यपि दोनों की वैचारिक एवं तार्किक प्रकृति में कोई समानता नहीं थी। इस समीक्षा क्रम का अगला शब्द 'दीन' है। भारतीय उपमहाद्वीप में दीन शब्द मुख्यतः दो आधार पर व्याख्यायित किया जाता है। संस्कृत मूल के अनुसार इसका अर्थ 'दीन' अर्थात गरीब, हीन, करुणाजनक इत्यादि और अरबी/फ़ारसी में 'दीन' का अर्थ मत, धर्म, पंथ इत्यादि माना जाता है। भाषा एवं देशकाल के अनुसार दीन शब्द की व्युत्पत्ति अलग-अलग है। विषय के परिप्रेक्ष्य के अनुसार संस्कृत मूल के शब्द पर विचार करने का कोई औचित्य नही है। धर्म (विशेषकर इस्लाम) के सन्दर्भ में प्रयोग होने वाला 'दीन' शब्द अरबी भाषा का है; जिसका मूल अरबी धातु 'द-य-न' मानी जाती है। 'दैन/दिन' (ऋण, जवाबदेही), आज्ञापालन, दण्ड, प्रतिफल, और व्यवस्था/क़ानून जैसे अर्थ निकलते हैं; इन्हीं से धार्मिक व्यवस्था या जीवन-पद्धति के अर्थ में 'दीन' (मत, धर्म, पंथ, तरीका) विकसित हुआ। सामान्य लोकाचार में जब हम 'दीन-धरम', 'दीनदार', 'दीन-दुनिया' का उच्चारण करते हैं तो वहाँ दीन शब्द का मायना अरबी मूल वाला होता है, जिसका अर्थ धर्म, मज़हब, आचरण पद्धति होता है। इस पड़ताल में अगला शब्द पन्थ है। सर्वविदित है कि पन्थ शब्द संस्कृत के 'पथ' से बना है, जिसका अर्थ 'मार्ग' या 'रास्ता' होता है। सामान्यतः पन्थ उस मार्ग को इंगित करता है जिस पर चलकर मनुष्य किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है। मानव सभ्यता के इतिहास में अनेक पहचान-प्रधान धार्मिक व्यवस्थाएँ इसी अर्थ में विकसित हुई हैं। यदि सांस्कृतिक वैश्वीकरण के दृष्टिकोण से देखा जाए तो पन्थ भी मज़हब की भाँति अपने प्रचार-प्रसार के लिए सांस्कृतिक प्रतिद्वन्द्व को आधार बनाता है।

किन्तु भारतीय संस्कृति की तर्कशील परम्परा ने किसी एक पथ को अपनी सर्वोच्च और अन्तिम व्यवस्था के रूप में स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह रहा कि जीवन के बहुमुखी विकास के लिए कोई 'देशकाल' सदैव के लिए उपयुक्त नही हो सकता है! परिस्थितियों के प्रवाह का यह प्राकृतिक दृष्टिकोण है। इसीलिए भारत में किसी भी पान्थिक व्यवस्था का कभी ऐसा प्रभुत्व नहीं रहा कि उसकी समीक्षा या आलोचना न की जा सके! इसी कारण से यहाँ कोई भी पान्थिक व्यवस्था अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं की गयी। भारत में अनेक मत-पन्थों का

विकास भी इसी आधार पर हुआ है। जिनकी स्वीकृति और त्याग केवल यथार्थ की कसौटी पर आधारित रही है।वस्तुतः यही दृष्टिकोण यह तथ्य सिद्ध करता है कि भारत मज़हब, पन्थ या संगठनात्मक धर्म का नहीं बल्कि दर्शन का देश है। इस समीक्षा क्रम का अगला शब्द रिलिजन है। यह लैटिन भाषा के रिलिजियो (Religio) शब्द से बना है। इसका सामान्य अर्थ धार्मिक कर्तव्य, पवित्रता, पूजा या ईश्वर के प्रति श्रद्धा से सम्बन्धित माना जाता है। वैसे रिलिजियो शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों के बीच दो प्रमुख मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार यह Re + Legere से बना है, जहाँ Re का अर्थ 'पुनः' तथा Legere का अर्थ 'पढ़ना या विचार करना' होता है। दूसरे मत के अनुसार यह Re + Ligare से बना माना जाता है, जिसमें Ligare का अर्थ 'बाँधना या जोड़ना' होता है। इन दोनों अर्थों का वैचारिक संकेत ऐसी व्यवस्था की ओर जाता है जिसमें श्रद्धा, पवित्रता, सामाजिक बन्धन और ईश्वर के प्रति समर्पण जैसे गुण प्रमुख होते हैं। इस दृष्टि से रिलिजन एक ऐसी संगठित एवं आस्थागत व्यवस्था का संकेत करता है जिसमें विश्वास, उपासना और सामुदायिक अनुशासन की प्रमुख भूमिका होती है। इस क्रम में अगला शब्द सनातन है। यह संस्कृत की सन (धातु) + आ (उपसर्ग) + तन (प्रत्यय) के संयोग से निर्मित माना जाता है। इसका सामान्य अर्थ 'सदैव विद्यमान', 'शाश्वत' या 'अनादि-अनन्त' होता है। सना (सन + आ) का भाव सदा विद्यमान रहने की स्थिति को इंगित करता है, जबकि 'तन' स्थिर रूप या संरचना का बौध कराता है। इस प्रकार सनातन शब्द किसी शाश्वत व्यवस्था का संकेत करता है। 'सन' धातु से ही सनत शब्द भी बना है। एक पौराणिक दृष्टिकोण से देखें तो भागवत पुराण के अनुसार ब्रह्मा के 16 मानस पुत्रों में से एक को सनातन भी कहा गया है। परम्परागत भारतीय संस्कृति के इस दृष्टिकोण से सनातन का सम्बन्ध प्राचीनता और शाश्वतता के भाव से जुड़ता है। इसलिए सनातन शब्द के साथ श्रद्धा और आदर का भाव भी स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है। इन शब्दों का सूक्ष्म अवलोकन करने पर पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये सभी शब्द धर्म के वास्तविक समानार्थी हैं? ....धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से मानी जाती है। धृ का मूल अर्थ धारण करना, संभालना या टिकाए रखना होता है। यह अर्थ यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि व्यक्ति या विषय-वस्तु को कब क्या धारण करना है अथवा उसका दायित्व क्या है? वस्तुतः यही बोध किसी व्यक्ति या वस्तु के गुणधर्म की आकृति निर्धारित करता है और इस बोध की नींव व्यक्ति के बुद्धि एवं विवेक के समन्वय पर टिकी होती है। इसी आधार पर धर्म का अर्थ व्यक्ति अथवा किसी विषय-वस्तु के स्वाभाविक गुण, दायित्व या उस व्यवस्था से लिया जाता है जो जीवन और समाज को सन्तुलित और संयमित बनाए रखती है। इस दृष्टिकोण से धर्म केवल आस्था या पूजा की पद्धति नहीं है, बल्कि वह व्यवस्था है जो जीवन, समाज और प्रकृति को धारण करती है। यह प्रश्न भारतीय दर्शन में इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करता है कि अग्नि का धर्म क्या है, पानी का धर्म क्या है? तथा पिता का धर्म क्या है, पुत्र का धर्म क्या है? इत्यादि। इसका स्पष्टीकरण यह है कि उदाहरणार्थ प्रस्तुत विषय-वस्तु क्या गुण धारण करती है? तो इसका उत्तर है कि अग्नि का धर्म दहन है, जल का धर्म शीतलता है, पिता का धर्म पुत्र का पालन-पोषण करना और उसे यथायोग्य बनने के लिए प्रोत्साहित करना है तो पुत्र का धर्म पितृ सेवा है। इस दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि धर्म का सम्बन्ध किसी संगठन, उपासना-पद्धति या पहचान से अधिक उस स्वभाव या व्यवस्था से है जो किसी वस्तु या अस्तित्व को धारण किए रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त शब्दों मज़हब, दीन, पन्थ, रिलिजन और सनातन की व्युत्पत्तिमूलक समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि इनका अर्थ और परिप्रेक्ष्य धर्म के मूल अर्थ से पूर्णतः मेल नहीं खाता। इन शब्दों को धर्म के समानार्थी के रूप में स्वीकार करना वस्तुतः एक प्रकार की तात्कालिक वैचारिक भरपायी भर प्रतीत होता है। इसीलिए इन शब्दों के चाल-चरित्र की धर्म से तुलना करना तर्कसंगत नहीं हो सकता है।

यह विमर्श इस प्रश्न की समीक्षा के अभाव में भी अधूरा ही रहेगा कि क्या 'सनातन' शब्द में धर्म का समन्वय नहीं है? ....इस विषय में मेरा विचार यह है कि धर्म स्वयं सनातन है, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार यह सृष्टि और सभ्यता के बौध की आधारशिला रखता है। किन्तु धर्म को 'सनातन-धर्म' के रूप में स्थिर कर देने से इसका मूल अर्थ अपने प्राकृतिक स्वरूप को खो देता है। तब यह उसी प्रकार एक सीमित पहचान में बंध जाता है जिस प्रकार इस्लाम, ईसाई या बौद्ध जैसी संगठन-प्रधान तथाकथित धर्म व्यवस्थाएँ बंध जाती हैं। वस्तुतः धर्म किसी विशेष संगठन, सम्प्रदाय अथवा पहचान का नाम नहीं है। यह जीवन, समाज और सृष्टि के सन्तुलन को धारण करने वाली वह व्यवस्था है जिसके आधार पर सभ्यता का विकास सम्भव होता है। यदि धर्म को किसी विशेष नाम, पन्थ अथवा पहचान के साथ स्थिर कर दिया जाए तो उसके मूल अर्थ की व्यापकता स्वतः सीमित हो जाती है। अतः यह स्पष्ट होता है कि मज़हब, पन्थ, दीन, रिलिजन या सनातन जैसे शब्द अपने-अपने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में धर्म से भिन्न अर्थ रखते हैं, जबकि धर्म का मूल स्वरूप इन सभी से अधिक व्यापक और मूलभूत है। धर्म वह तत्व है जो जीवन, समाज और प्रकृति को धारण करता है तथा मानव सभ्यता को सन्तुलित और संयमित रखने की आधारशिला रखता है। इसी कारण धर्म को किसी विशेष पन्थ, सम्प्रदाय या संगठन के रूप में सीमित कर देना उसके वास्तविक स्वरूप को संकुचित कर देता है। धर्म का वास्तविक स्वरूप उस शाश्वत अथवा सनातन व्यवस्था में निहित है जो सृष्टि, प्रकृति और मानव जीवन के सन्तुलन

को धारण करती है। इसलिए धर्म, सनातन है लेकिन 'सनातन-धर्म' का कोई सामाजिक औचित्य नही ठहरता। मज़हब, पन्थ, दीन, रिलिजन जैसे अन्य शब्द भी धर्म की कसौटी पर रखने की योग्यता नही रखते। इसलिए मानव मात्र को धर्म के मूल दृष्टिकोण को ही स्वीकार करना चाहिए। यही समाज के हित का विषय है।

(विस्तार के कारण 'ज़हब या धहब' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए सेमेटिक भाषाओं के व्याकरण पर अलग से ही अध्ययन करना होगा)

ज्ञान तत्व में इस अंक से "आशा खोती मानवता" नाम से एक नया नियमित स्तंभ शुरू हो रहा है। इसके लेखक उप-संपादक ज्ञानेंद्र आर्य हैं।

14 अध्यायों में लिखी यह पुस्तक हमारे समय के सवालों को सामने रखती है और सोचने को मजबूर करती है। प्रत्येक अंक में इसका एक अध्याय प्रकाशित किया जाएगा।

अध्याय-1

सुख: शांति और नियंत्रण: सभ्यता की मूल बेचैनी:-

ज्ञानेन्द्र आर्य

प्रजनन और संतान का संरक्षण प्रकृति का ऐसा नियम है, जिसका पालन हर जीव किसी न किसी रूप में करता ही है। मनुष्य भी इससे अछूता नहीं हो सकता था। यदि मनुष्य केवल इसी जैविक दायरे तक सीमित रहता, तो संभव है कि आज सृष्टि का स्वरूप कुछ और होता। किंतु मनुष्य ने जीव मात्र बने रहने से आगे बढ़कर मनुज बनने की आकांक्षा की।

यही आकांक्षा सभ्यता और विकास के विविध आयामों को छूने की चाह में परिवर्तित हुई। जैसे - जैसे मनुष्य ने समूह बनाए, संसाधन साझा किए और भविष्य की कल्पना की, वैसे - वैसे उसे केवल अस्तित्व नहीं, बल्कि सुरक्षा, स्थिरता और आश्वासन की आवश्यकता महसूस होने लगी। अकेले जीवित रहना संभव था, पर सामूहिक रूप से सुखपूर्वक रहना अनिश्चित।

इसी अनिश्चितता को कम करने के प्रयास में सामाजिक अनुबंधों का एक जाल बुना गया। इन अनुबंधों ने व्यवहार को सीमित किया, अपेक्षाएँ तय की और टकराव को नियंत्रित करने का प्रयास किया। इसी प्रक्रिया से दो संस्थाएँ जन्म लेती हैं 'राज्य और धर्म'।

राज्य ने बाह्य सुरक्षा और अनुशासन का भार संभाला, जबकि धर्म ने आंतरिक संयम और नैतिक दिशा देने का प्रयास किया। दोनों का उद्देश्य एक ही था अराजकता को रोके रखना और समाज को सांस लेने योग्य बनाना।

समाज ने जब यह अनुभव किया कि केवल सभ्यता ही नहीं, बल्कि एक व्यक्ति के सुखपूर्वक जीवन - यापन के लिए शांति अनिवार्य है, तभी व्यवस्था की आवश्यकता स्पष्ट हुई। मनुष्य का कोई भी प्रयत्न चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक, अंततः किसी न किसी रूप में सुख की ओर ही उन्मुख रहता है। सुख की इस चाह के मनोवैज्ञानिक कारणों पर अलग से विचार किया जा सकता है, किंतु इस तथ्य से इनकार संभव नहीं कि मनुष्य की अंतिम आकांक्षा सुख का निरंतर बना रहना है।

सुख का निरंतर मिलते रहना ज्ञान का विषय हो सकता है, पर सुख की खोज स्वयं जीवन की पहली जिजीविषा है। जीवित रहने की इच्छा से पहले, या उसके साथ - साथ, सुखी रहने की आकांक्षा जन्म लेती है। इसी आकांक्षा को व्यवस्थित करने के प्रयास में समाज ने धर्म और सत्ता जैसी संरचनाओं को स्वीकार किया।

सत्ता का उद्देश्य व्यक्ति की उच्छृंखलता पर बलपूर्वक नियंत्रण स्थापित करना रहा है। वह नियम बनाती है, दंड निर्धारित करती है और भय के माध्यम से अनुशासन सुनिश्चित करना चाहती है। इसके विपरीत, धर्म हृदय - परिवर्तन के माध्यम से उसी उच्छृंखलता पर निमंत्रण देता है। वह 'होना चाहिए' के संदर्भ में उपदेश करता है और व्यक्ति की आंतरिक स्वीकृति पर निर्भर रहता है। एक बाहरी अनुशासन है, दूसरा आंतरिक आग्रह।

सभ्यता की स्थिरता इसी द्वैत पर टिकी रही, देह को नियंत्रित करने के लिए सत्ता और मन को दिशा देने के लिए धर्म। जब तक ये दोनों अपनी सीमाओं में रहे, समाज सांस लेता रहा।

Ayn Rand "When you see that trading is done not by consent but by compulsion..." (भावार्थ) "जब व्यवस्था स्वैच्छिक सहयोग के बजाय बाध्यता पर टिकने लगे, तो समझ लेना चाहिए कि नैतिक पतन शुरू हो चुका है।"

इतिहास का सर्वाधिक काला दिन वह होगा या शायद हो चुका है, जिस दिन सत्ता और धर्म ने परस्पर गठजोड़ कर लिया। यह गठजोड़ असामान्य नहीं, बल्कि भयावह है। एक ओर देहधारी संगठन है, जिसके पास बल और संसाधन हैं; दूसरी ओर अभौतिक सत्ता है, जो मन, भय

और आस्था पर अधिकार रखती है। जब देह और मन दोनों पर एक ही लक्ष्य का नियंत्रण स्थापित हो जाए, तो समाज रूपी आत्मा का पतन अवश्यंभावी हो जाता है।

विडंबना यह है कि न सत्ता का लक्ष्य सुख रहा है, न धर्म का। सत्ता शक्ति, विस्तार और नियंत्रण की बीमारी से ग्रस्त हो जाती है, और धर्म धीरे - धीरे अर्थ के स्थान पर पहचान, और करुणा के स्थान पर आग्रह को चुन लेता है। परिणामस्वरूप सत्ता भ्रष्टाचार, धनलिप्सा और अपराध की ओर झुकती है, और धर्म भ्रम, अवसाद और संप्रदायिक संकीर्णता में सिमट जाता है।

जब समाज की प्रत्येक इकाई अपने मूल उद्देश्य से विचलित हो जाए, तब व्यक्ति का टूटना अपरिहार्य हो जाता है। आज का व्यक्ति स्वार्थ और आक्रोश में आकंठ डूबा हुआ है। वह केवल शोषित नहीं है; वह स्वयं भी शोषण करने को तत्पर है। भ्रष्टाचार अब अपवाद नहीं, व्यवहार बन चुका है।

धर्म अब संप्रदाय बनकर केवल संख्या गिनने में व्यस्त है, और राज्य संघर्ष, षड्यंत्र और सत्ता - संरक्षण का गढ़ बन चुका है। राज्य, जिसके पास संगठन की शक्ति है, उस शक्ति का अधिकतम केंद्रीकरण चाहता है—भले ही उसकी कीमत व्यक्ति की स्वतंत्रता ही क्यों न हो।

तीर और तलवार से लड़े जाने वाले युद्धों का युग समाप्त हो चुका है। आज न जंजीरें दिखाई देती हैं, न कारागार अनिवार्य हैं। फिर भी मानवता यह दावा नहीं कर सकती कि वह स्वतंत्र है। नियंत्रण अब दृश्य नहीं, संरचनात्मक है; दमन अब हिंसक नहीं, स्वीकृत है।

यह अध्याय किसी निष्कर्ष के लिए नहीं, बल्कि एक प्रश्न के लिए है।

क्या आज की राज्य-व्यवस्था वास्तव में बीमार है, या वह सुनियोजित रूप से ऐसी दिखाई जा रही है?

और यदि यह बीमारी नहीं, बल्कि रणनीति है, तो उसका उद्देश्य क्या है?

आने वाले अध्यायों में हम इसी प्रश्न के सबसे मानवीय पक्ष से शुरुआत करेंगे -

जब आशा क्षीण होती है, तब व्यक्ति कैसे आज्ञाकारी बनता है।

जीवन पथ

(विवेक और आदित्य का सवांद)

मेरे विचार से भारत के संविधान की पठनीय विषय-वस्तु में वे सब गुण हैं जो एक लोकतन्त्रीय राज्य की विशुद्ध राजनीतिक व्यवस्था में होने चाहिए। इसमें निहित विषय-वस्तु की अवहेलना करना बडा दुष्कर कार्य है। इसकी भाषा में जटिलता भी है और स्वीकार करने योग्य तथ्य भी। लेकिन यह एक कुटिल राजनीतिज्ञ की तरह अपने अस्तित्व की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए जनता के हित की कामना करता है। इसकी विषय-वस्तु में भयंकर क्रूरता है। क्योंकि यह समाज को राज्य में निहित समझता है। लेकिन अपने अस्तित्व के पोषक (समाज) के बीच यह स्वयं को बहुत पिलपिले रूप में प्रस्तुत करता है। भारत का संविधान राजनीतिक भाषाविदों की उच्चाकांक्षा का उत्कृष्ट प्रमाण है, क्योंकि यह राजनेताओं को समाज पर शासन करने की छूट देता है। मैने यह तथ्य विश्लेषित करने का प्रयास किया कि यह समाज में परस्पर स्वतन्त्रता, समानता, निरपेक्षता, सहिष्णुता, न्याय, सुरक्षा, अवसर की समानता की स्थापना करने हेतु नियमबद्ध है। लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सका, और यहाँ तक कि संविधान की इस विफलता का कारण कई बार तो समाज को बता दिया जाता है कि समाज दोषी है। मैने जब इस रहस्य को जानने का प्रयास किया तो मुझे ऐसा होने के बडे सरल कारण की जानकारी हुई। यह जनता के विरूद्ध कोई षडयन्त्र नहीं है। क्योंकि इसे कथित तौर पर जनता द्वारा निर्वाचित संविधान सभा ने जनता का प्रतिनिधित्व करते हुए निर्मित किया है। यह तो केवल विषय-वस्तु के स्वभावगत गुण की स्थापना का प्रश्न है। भारत के संविधान की निष्फलता का कारण एक शब्द समूह के दो अर्थो में निहित है। हम जानते हैं, भारत में अंग्रेजो से शासन मुक्ति के बाद लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना हुई। भाषाशास्त्र के ज्ञाता लोकतन्त्र शब्द का चाहे जो भी अर्थ समझें। लेकिन व्यवस्था के सन्दर्भ के अनुसार परिणाम प्राप्त करने एवं इसके ढाँचे को समझने के लिए इसके दो अर्थ स्वीकार किए जाते हैं। इसका मूल अर्थ समाजशास्त्रीय भाषा में प्रकट होता है जो इसे जनता की व्यवस्था के रूप में स्वीकार करता है और इसका दूसरा व छदम अर्थ जो राजनेताओं की भाषा के अनुसार है वह है जनता और व्यवस्था। .....जनता की व्यवस्था अर्थात लोक (जनता) जिसे अपने लिए निर्मित करता है, अपने लिए स्वीकार करता है तो भला वह उसके प्रति जवाबदेही से कैसे इंकार कर सकता है? यद्यपि लोक, स्वेच्छा से या कारणवश दायित्व बोध को नकार भी सकता है, लेकिन उसी के द्वारा स्थापित की गयी व्यवस्था की नियमावली उन्हीं लोगों को दायित्व निर्वहन के लिए प्रतिबद्ध न कर सके, तो उसे व्यवस्था कैसे कहा जा सकता है? यदि कोई लोकव्यवस्था ऐसा परिणाम नहीं दे सकती है तो स्वतन्त्रता के मूल-भूत आदर्श को समझते हुए जीवन-निर्वहन के लिए प्राकृतिक अवस्था ही सर्वाच्च प्रकार है।

करता है विवेक तो लगता है कि मैने तेरे चरित्र मे वे संस्कार रोप दिए हैं जो तेरे पिता की इच्छा के अनुरूप हैं। तेरे ऐसे आचरण से मुझे बहुत संबल मिलता है। माँ का वक्तव्य सुनकर विवेक उनसे आग्रह पूर्वक कहता है-माता-पिता की इच्छा सन्तान के लिए आदेश के समान होती है। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं जीवन पर्यन्त मर्यादाओं का पालन करता रहूँ।ऐसा ही होगा बेटे। ईश्वर की कृपा से तू निश्चित रूप से ऐसा ही करेगा। ....कुछ क्षण चुप रहकर माँ पुनः कहती है- तुम दोनों ने बातें बहुत कर ली है। अब उठो और खेत का काम निपटा आओ। मुन्नी तू भी विवेक के साथ चली जा। ये खेत में क्या करेगी माँ, वहाँ मैं और विवेक चले जाते हैं। अरे, ये किसान की बेटी है। खेत-खलिहान की तासीर से वाकिफ नहीं होगी तो भला कैसे काम चलेगा? लेकिन हम इसकी शादी ऐसे परिवार में करेगें जहाँ खेती नहीं व्यापार होता हो! आदित्य भैया, आपको बस यही बात याद रहती है। जाओं मैं आपसे बात नहीं करूँगी। अच्छा तो तू बता देना मेरी गुडिया। हम कोई व्यापारी नहीं तो ऐसा बहनोई खोजेगे जो कहीं नौकरी करता हो। भैया। याद रखना मैं आपसे कभी बात नहीं करूँगी। लेकिन मैं तुझसे बात किए बिना नहीं रह सकूँगा और न मैं हमेशा विवेक के जैसी बातें कर सकता हूँ आखिर हमे तेरी शादी तो करनी ही होगी। माँ! देख लो भैया को। अरे पगली मैं क्या देख लूँ, भाई-बहन में जरा बहुत तकरार न हो तो परिवार कैसा? इसने तेरी चिढ निकाली है तू इसकी कोई ढूँढ ले!क्या मुझे भी ऐसा कुछ करना पड़ेगा भैया? बहन को जैसा करने से खुशी मिल जाए, भाई को उसी से सुकून मिल जाता है। अगर यह बात सच है तो बहन पर भी ये नियम लागू होता होगा। मैं आपकी किसी बात की अवहेलना नहीं कर सकती भैया।

संस्थागत समाचार

लोक स्वराज यात्रा: संवाद, संगठन और विचार के पुनर्संयोजन की दिशा में एक प्रयास

ज्ञान यज्ञ परिवार की लोक स्वराज यात्रा ने बीते दिनों विभिन्न स्थानों पर संवाद और विचार-विमर्श के माध्यम से समाज के बीच काम किया। इस यात्रा का उद्देश्य ज्ञान केंद्रों की स्थापना, वैचारिक शून्यता को कम करना तथा संवैधानिक, सामाजिक और वैचारिक विषयों पर समाज की सहभागिता को बढ़ाना रहा। यात्रा छत्तीसगढ़ के दुर्ग, भिलाई, राजनांदगांव, बालोद, धमतरी, भानुप्रतापपुर और कांकेर जैसे क्षेत्रों से होकर आगे बढ़ी। इन स्थानों पर आयोजित बैठकों में स्थानीय नागरिकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ चर्चा हुई। कुछ स्थानों पर ज्ञान केंद्रों की स्थापना भी की गई, जिससे इस पहल को स्थानीय स्तर पर आधार मिला। इसके बाद यात्रा मध्यप्रदेश के अनूपपुर, उमरिया, कटनी, मैहर और रीवा पहुँची। इन स्थानों पर आयोजित बैठकों में स्थानीय साथियों के सहयोग से ज्ञान केंद्र स्थापना, संवाद की आवश्यकता और सामाजिक विषयों पर चर्चा हुई। रीवा में आयोजित बैठक में नागरिकों की सहभागिता रही और कई लोगों ने ज्ञान तत्व पत्रिका की सदस्यता ग्रहण करने तथा आगे की गतिविधियों में जुड़ने की इच्छा व्यक्त की। यात्रा के दौरान चर्चा का एक प्रमुख विषय समाज में वैचारिक शून्यता और परिवार सशक्तिकरण की भूमिका रहा। विभिन्न स्थानों पर यह बात सामने आई कि समाज में संवाद और विचार की प्रक्रिया को नियमित रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। इस यात्रा के माध्यम से नए लोगों से संपर्क स्थापित हुआ और पुराने साथियों के साथ संवाद भी मजबूत हुआ। कई स्थानों पर लोगों ने ज्ञान केंद्रों की स्थापना और आगे की गतिविधियों में सहयोग देने की सहमति दी। वर्तमान चरण के बाद यह यात्रा आगे की तैयारी के साथ पुनः शुरू होगी। 28 मार्च को यह यात्रा मध्यप्रदेश के साथियों से मिलने के लिए आगे बढ़ेगी, जहाँ आगे की बैठकों और संवाद का क्रम जारी रहेगा।